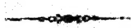
# सम्प्रदाय प्रदीपालोक

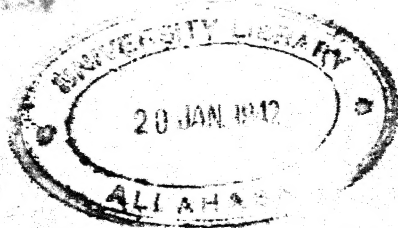
( सम्प्रदाय प्रदीप का भावानुवाद )





अनुवादक—

प्रो. कण्ठमणि शास्त्री विशारद




प्रथम बार १०००

मूल्य २)

प्रकाशक
प्रो० कण्ठमणि शास्त्री, विशारद
संचालक
विद्या-विभाग, कांकरोली

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

श्रीद्वारकेशो जयति

# वाङ्मुख

( १ ) ग्रन्थकार—

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता पं० गदाधरदास द्विवेदी ने यद्यपि ग्रन्थान्त में अपना परिचय दिया है, तथापि संक्षिप्त होने के कारण उससे विशेष जिज्ञासा का समाधान नहीं होता है। प्राचीन पुस्तकों की गवेषणा करने पर ग्रन्थकार के अन्य दो अप्रकाशित ग्रंथ—"हरिभजनमणि मञ्जरी" और "भगवत्तत्त्वदीपिका"—उपलब्ध हुए हैं।

पं० गदाधरदासजी के रचित तीनों ग्रंथों के उपक्रम एवं उपसंहार के प्रणाली-साम्य से उनके एककर्तृक होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता है। उक्त ग्रन्थत्रय के अवलोकन से ग्रंथकर्ता के जीवन-चरित पर इस प्रकार प्रकाश पड़ता है—

( क ) सम्प्रदाय-प्रदीप—

प्रारम्भ—"श्रीवल्लभस्यात्मजविट्ठलेशे

प्रशासति प्राणिहितैकहेतौ ;

मार्गं तदीयं किल तस्य शिष्यो

गदाधरो वक्ति यथामतीदम् ।"

अन्त—"अर्बुदारण्यसम्भूतो द्विवेदीति गदाधरः ;

सम्प्रदायप्रदीपाख्यं ग्रन्थमेनं चकार सः ।"

"वासं कृत्वा वृन्दारण्ये धृत्वा चित्तं श्रीराधेशे ;

ग्रन्थं कृत्वा गदनामायं कृतकृत्योऽस्तु श्रीकृष्णात् ।"

"अर्बुदादग्निदिग्भागे ह्यवोरगिरिसन्निधौ ;

एकलिङ्गाच्छिवक्षेत्रान्नैरृत्यां दिशि विश्रुतम् ।"

"सर्वं सेवोपकरणं श्यामसुन्दरमन्दिरम् ;
वसन्ति तत्र तत्सेवां कुर्वन्तश्च कथां मुदा ।
गदाख्यपुत्रपौत्राद्या रामदत्तादयः श्रुता ।"

"श्रीमन्नृपतिविक्रमादित्य-समयातीत-षोडशशताधिकदशमसम्वत्सरे श्रीमद्वृन्दावने श्रीगोविन्ददेवसान्निध्ये द्विवेदिगदाख्येन ग्रन्थोऽयमकारि ।"

( ख ) हरिभजनमणिमञ्जरी—

प्रारम्भ—"श्रीवल्लभस्यात्मजविट्ठलेशे
स्वं रक्षमाणे खलु सम्प्रदायम् ;
तदासदासो हि गदाऽभिधस्तु
चकार विष्णोर्जनवल्लभं च ।"

अन्त—"इति श्रीसतीपुरज्ञातिभवद्विवेदि-श्रीलक्ष्मणात्मजश्रीपति-सूनुगदाधरविरचितायां "हरिभजनमणिमञ्जर्यां" नवमं प्रकरणं समाप्तम् । सं० १६७१ वर्षे भाद्र-शुक्ल ८ भौमे धनजीकेनलिखितम् ।"

( ग ) भगवत्तत्त्वदीपिका—

प्रारम्भ—"श्रीवल्लभं नमस्कृत्य भगवत्तत्त्वदीपिकाम् ;
वक्ष्ये तज्जनबोधाय रामदत्ताय शाश्वतीम् ।"

अन्त—"सतीपुरज्ञाति भवः श्रीमत्सिद्धपुरेऽभवत् ;
शिष्यः श्रीवल्लभस्यैव यो नाम्ना व्यासवैष्णवः ।
तच्छिष्यो गदनामाऽहं भगवत्तत्त्वदीपिकाम् ;
प्रशासति स्वमार्गन्तु कृतवान्न विट्ठलेश्वरे ।
अर्बुदादग्निदिग्भागे ग्रामोऽस्ति दशयाजनात् ।
श्यामसुन्दरनामास्ति श्रीगोपीजनवल्लभः ;
तत्रेयं क्रियते श्रीमद्भगवत्तत्त्वदीपिका ।"

"इति श्रीसतीपुरज्ञातिभव-श्रीपतिसुतगदाधरविरचिता भगवत्तत्त्व-दीपिका समाप्ता ॥"

उल्लिखित प्रसंगों के पर्यालोचन से पं० गदाधरदासजी का परिचय इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है—

पं० गदाधरदास द्विवेदी के पितामह का नाम पं० लक्ष्मण-द्विवेदी एवं पिता का नाम पं० श्रीपति द्विवेदी था। यह सतीपुर ज्ञातीय ( साँचीहर ) ब्राह्मण थे। इनके जन्म-संवत् का प्रामाणिक रूप से पता नहीं लगा है। हिन्दी-भाषा के उत्तम कवि होने के कारण मिश्रबन्धुओं ने इनके विषय में इस प्रकार उल्लेख किया है—

१—"नाम ( ६६ ) गदाधर मिश्र व्रजवासी। जन्म सं० १५८०। रचना-काल १६०५। विवरण—इनके पद रागसागरोद्भव में हैं। कविता परमोत्तम है। तोष कवि की श्रेणी।" ( मिश्र ब० वि० प्र० भाग, पत्र ३१५ )

२—" $\frac{१४२}{१}$ गदाधर भट्ट का ठीक समय सं० १६३२, सं० १६७६ की खोज में मिला है। पहले आपका नं० ४२७ तथा समय १७२२ गलती से माना गया था। चैतन्य-गौड़-सम्प्रदाय के वैष्णव थे। आपकी एक बानी ( ग्रंथ ) हमने छत्रपुर में देखी है। रचना बड़ी सोहावनी है। पद्माकर श्रेणी।" ( पत्र ३२५ )

३—"नाम ( १५४ ) गदाधरदास वैष्णव वृन्दावन। ग्रन्थ—बानी। कविता-काल १६३२। विवरण—कृष्णदास के शिष्य थे।" ( पत्र ३४१ )

४—"नाम ( २२८ ) गदाधरजी। ग्रंथ—स्फुट पद्य। रचना—१६६०। विवरण—साधारण श्रेणी।" ( पत्र ३६४ )

मिश्रबन्धु-विनोद ( प्र० भा० ) के उक्त उद्धरणों से यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि सम्प्रदाय-प्रदीप के कर्ता गदाधर उक्त चार में से कौन हैं? अतः हमें इसकी गवेषणा करनी पड़ेगी।

नं० १ के गदाधर के केवल 'मिश्र' उपनाम पर हमें आपत्ति है। संभव है, यह चौरासी वैष्णव की वार्ता सं० १३वाले कपिल सारस्वत ब्राह्मण गदाधर हों, जो श्रीवल्लभाचार्य के शिष्य थे। परन्तु इनका जन्म सं० १५८० जो माना जाय, तो वह ठीक नहीं जँचता। कारण, श्रीवल्लभाचार्य का समय १५३५ से १५८७ तक है। अतः वल्लभाचार्य की समकालीनता प्राप्त न होने के कारण ८४ वैष्णव वार्ता में इनका स्थान प्राप्त करना टेढ़ी खीर हो जाता है। 'मिश्र' उपनाम यदि भ्रम से संयुक्त हो गया हो, तो सम्प्रदाय-प्रदीप-कर्ता गदाधर और इन गदाधर को एक मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं रह जाती। यद्यपि १६१० ( सम्प्रदाय-प्रदीप की पूर्ति-समय ) में ग्रन्थकार ने अपने रामदत्त आदि पुत्र-पौत्रों की उपस्थिति लिखी है, तथापि उसका समाधान पिता-पुत्र दोनों के स्वल्पवय में विवाह हो जाने एवं सन्तान हो जाने से हो सकता है।

नं० २ के गदाधरदास के विषय में यहाँ विचार करना वृथा है, क्योंकि वह चैतन्य-गौड़-सं० के वैष्णव थे, और यह वल्लभ-सं० के वैष्णव थे। संभव है, यहाँ सम्प्रदाय-भेद लिखने में भूल हुई हो!

नं० ३ के गदाधर का स्थान वृन्दावन एवं कविता-काल १६३२ ठीक जँचता है, पर कृष्णदास का शिष्य होना यहाँ अखरता है। हमारे गदाधरदासजी राणा व्यास के विद्या-शिष्य एवं श्रीगुसाईंजी के वैष्णव-दीक्षा-शिष्य थे। संभव है, यहाँ गुरु के नामोल्लेख में भूल हुई हो!

नं० ४ के गदाधर का ग्रंथ-रचनाकाल-सं० १६६० है, अतः गुसाईंजी के बहुत समय बाद इनके रचना-काल से उनकी समकालीनता में बहुत कुछ अन्तर आ जाता है, एवं ग्रन्थ-पूर्ति का समय ( सं० १६१० ) जो इनकी प्रौढावस्था का द्योतक है—सं० १६६० के लिये पूर्ण आयुष्य का बोधक हो जाता है, जो भाग्य से ही संभव है।

पुष्टि-सम्प्रदाय की ८४ वैष्णव की १२वीं वार्ता में एक हों गदाधर का उल्लेख पाया जाता है, जो श्रीवल्लभाचार्यजी के शिष्य एवं 'कड़ा' ग्राम के निवासी कपिल सारस्वत ब्राह्मण थे। इनके कीर्तनों में 'गदाधर मिश्र' की छाप है। 'प्रदीप' ग्रन्थकर्ता गदाधर के रचित कीर्तनों में 'गदाधरदास' की छाप है, जो गो० श्रीविट्ठलनाथजी के शिष्य थे। अतः यह निःसन्दिग्ध है कि सम्प्रदाय में दो गदाधर प्रसिद्ध हुए हैं।

मिश्रबन्धु-विनोद के उक्त उद्धरणों से एवं गदाधर के नाम-बाहुल्य से उनके विश्लेषण में बड़ी असुविधा उपस्थित हो गई है, इसमें तत्कालीन किसी लिखित प्रमाण का अभाव भी एक बड़ा कारण है।

सं० १६१० की सं० प्रदीप की पूर्ति, गोस्वामी विट्ठलनाथजी की शिष्यता और समकालीनता, राणा व्यास की विद्या-शिष्यता एवं 'प्रदीप' की पूर्ति के समय पुत्र-पौत्रादि की उपस्थिति के उल्लेख से यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत गदाधरजी का जन्म सं० १५७०-८० के बीच में हुआ हो।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है—गदाधरदासजी के विद्यागुरु सिद्धपुर-निवासी राणा-व्यास थे, जो एक प्रसिद्ध पौराणिक, वैष्णव एवं सांचीहर-कुलोत्पन्न इनके सजातीय ब्राह्मण थे। यही राणा व्यास यात्रा करते हुए सिद्धपुर पधारते समय श्रीवल्लभाचार्य के अनन्य सेवक और शिष्य बन गये थे *।

गदाधरदासजी ने श्रीमदाचार्यचरणों के द्वितीय पुत्र गो० श्री-विट्ठलनाथजी से वैष्णव-धर्म की दीक्षा ली, और तभी से वह पुष्टि-सम्प्रदाय के अनुयायी और कट्टर भक्त हो गये। उस समय गो० श्री-

---

* देखो—सं० प्रदीप चतुर्थ प्रकरण तथा ८४ वैष्णव-वार्ता सं० ३१ प्रसंग २।

विट्ठलनाथजी इस सम्प्रदाय के आचार्य-पद पर विराजमान होकर उसका संचालन कर रहे थे। उक्त श्लोकों के "प्रशासति प्राणिहितैक-हेतौ" इस विशेषण से तत्कालीन सम्प्रदाय की एक उज्ज्वल झलक के दर्शन होते हैं—जब केवल प्राणि-मात्र के हित की दृष्टि से ही इसका संरक्षण एवं प्रचार होता था। श्रीप्रभुचरण श्रीगुसाइंजी का समय सं० १५७२ से १६४२ तक निश्चित होने से यह निःसन्दिग्ध है कि गदाधरदासजी ने अपने ग्रंथों की रचना उनकी उपस्थिति में ही कर ली थी। अस्तु।

ग्रन्थकार का निवास-स्थल अर्बुदाचल से दश योजन ( ४० कोस ) पर आग्नेय दिशा में "एकलिंग" नामक शिवक्षेत्र (मेवाड़) से नैऋत्य दिशा में "अघोर गिरि" ( ? ) के समीप था, जहाँ "श्रीश्यामसुन्दर-जी का प्रसिद्ध मन्दिर" था। इसी श्यामसुन्दरजी के मन्दिर में गदाधर-दासजी अपने पुत्र-पौत्र रामदत्त आदि ( जिनके परिज्ञान के लिये "भगवत्तत्त्वदीपिका" की रचना की गई है ) के साथ सेवा, कथा-वार्ता ( पौराणिक वृत्ति ) से अपना जीवननिर्वाह करते हुए निवास करते थे।

इस स्थल का अन्वेषण करने पर विज्ञात हुआ है कि उक्त स्थल सम्प्रति "वडाली"* नाम से प्रसिद्ध है, जो "खेडब्रह्मा" और "ईडर" के आस-पास गुजरात-प्रदेश में है। कुछ वर्षों के पूर्व "श्रीश्याम-सुन्दरजी" वहाँ से किसी कारण-वश पधार गये, जो सम्प्रति "ईडर" में विराजते हैं। ज्ञात हुआ है कि कुछ समय पूर्व इस मंदिर का प्रबन्ध ईडर के नरेश के हस्तगत हुआ और उन्होंने व्यवस्था कर इसे जूनागढ़वाले गो० श्रीगोकुलेशजी महाराज को भेंट कर दिया।

सम्प्रदायप्रदीप की रचना वृन्दावन के श्रीगोविन्ददेवजी के मन्दिर

* यह स्थल अर्बुदाचल से दश योजन अग्निकोण में है, जो भगवत्तत्त्वदीपिका के उद्धरण से भी मिलता है।

में पूर्ण हुई थी, जिससे ग्रंथ-निर्माता की व्रजवालप्रियता परिलक्षित होती है। उक्त ग्रंथ की पूर्ति सं० १६१० में की गई है। "हरिभजन-मणि-मञ्जरी" एवं "भगवत्तत्त्वदीपिका" में जिस प्रांजल लेखन-शैली के दर्शन होते हैं, वह संप्रदाय-प्रदीप में दृष्टिगोचर नहीं होती, अतः यह विना ऊहापोह के कहा जा सकता है कि संप्रदायप्रदीप ग्रंथकार की सर्वप्रथम कृति है। ग्रंथों के एककर्तृक होने पर भी उनकी लेख-शैली की उत्तरोत्तर सुचारुता से सहज ही यह निर्धारित हो जाता है।

निर्दिष्ट ग्रन्थत्रय के अतिरिक्त गदाधरदासजी-कृत संस्कृत वाङ्मय का अन्य ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ है।

उक्त ग्रंथत्रय के विहंगावलोकन से गदाधर के पाण्डित्य एवं उनकी प्रतिभा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, इनके विद्या-वैदुष्य तथा भक्ति-प्रवण, सरस, भक्त-हृदय के साथ इसका भी पता चलता है कि यह जिस प्रकार इस सम्प्रदाय के कट्टर अनुयायी थे, उसी प्रकार वैष्णवों के हित-चिंतक एवं सम्प्रदाय के शुद्ध स्वरूप की रक्षा के भी पूर्ण अभिलाषुक थे।

पं० गदाधरदासजी जिस प्रकार संस्कृतभारती के पण्डित थे, उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य के भी प्रतिभा-संपन्न विद्वान् थे। संप्रदाय के कीर्तनों में गदाधरदासजी का एक विशिष्ट स्थान है। उनके विषय में यदि यह कहा जाय कि वे एक भावुक कवि तथा कुशल कीर्तनकार थे, तो अत्युक्ति न होगी। संप्रदाय में कीर्तन के समय यथावसर इनके पद भी बड़ी श्रद्धा के साथ गाये जाते हैं। इन कीर्तनों के पठन-पाठन से यह पूर्णतया अवगत हो जाता है कि भाषा-साहित्य पर इनका पूरा अधिकार था, और वे इसका यथास्थान रुचिर उपयोग करने में पटु थे। मिश्रबंधुओं ने भी 'रागसागरोद्भव' में संगृहीत इनके कीर्तनों पर प्रसन्न होकर इन्हें 'तोष' कवि की श्रेणी का मानकर इनकी कविता को परमोत्तम माना है।

कीर्तनकारिता एवं गान-विद्या का विशेष साहचर्य माना जाता है, अतः इनकी गायन-प्रवीणता में भी कोई सन्देह नहीं रह जाता। संभव है, यह स्वकीय कीर्तनों का निर्माण कर उन्हें गो० श्रीविट्ठलनाथजी प्रभुचरण को सुनाते एवं स्वयं भगवत्सेवा में गाते भी हों! यदि ऐसा न हुआ होता, तो आज सम्प्रदाय के प्रधान मन्दिरों में इनका प्रचार न होता, क्योंकि साम्प्रदायिक कीर्तन-पद्धति का बहुत कुछ संशोधन श्रीगुसाईंजी के समय में ही हुआ है। अष्टछाप के प्रसिद्ध कीर्तनकारों की प्रतिद्वन्द्विता में ऐसे-वैसे कीर्तनों का प्रचलित होना तो अशक्य नहीं, तो दुःशक्य अवश्य था। इस प्रसंग में 'सम्प्रदाय-प्रदीप' के पाठकों को हम गदाधरदासजी की कीर्तन-सुधा-माधुरी से वञ्चित नहीं रखना चाहते। अतः सहृदय पाठक देखें कि निम्नलिखित दो-तीन कीर्तनों में कवि ने किस भावुकता के साथ काव्य-कला का चमत्कार चमकाया है—

१. राग विभास—

मो कुल कलमष कलह नसत सब, देख प्रभात प्रभाकर कन्या।
देखौ पाप जात जित तित ह्वै ज्यौं मृगराज देख मृग सन्या ॥ १ ॥
पोषत दै पयपान पुत्र लौं हौ जग-जननी धन्य सुधन्या।
चाहे दियौ 'गदाधर' हूँ कों चरण-कमल निज भक्ति अनन्या ॥ २ ॥

२. राग रामकली—

जयति श्रीराधिके, सकल सुखसाधिके,
तरुणि-मणि नित्य नौतन किशोरी;
कृष्ण-तन-नील-घन-रूप की चातकी,
कृष्ण-मुख हिम-किरण की चकोरी ॥ १ ॥
कृष्ण-दृग-भृंग-विश्राम-हित पद्मिनी,
कृष्ण - दृग मृगज - बंधन सुडोरी;

कृष्ण - अनुराग - मकरंद की मधुकरी,
कृष्ण - गुण - गान - रस - सिंधु बोरी ॥ २ ॥
परम अद्भुत अलौकिक मेरी गति,
लख मनसि साँवरे रंग अंग गोरी ;
और आश्चर्य मैं कहुँ न देख्यौ सुन्यौ,
चतुर चौसठ कला तदपि भोरी ॥ ३ ॥
विमुख पर-चित्तते चित्त याको सदा,
करत निज नाह की चित्त-चोरी ;
प्रकृत यह 'गदाधर' कहत कैसे बनै,
अमित महिमा इतै बुद्धि थोरी ॥ ४ ॥

३. राग बिहाग—

झूलत नागरी नागर लाल ।
मंद-मंद सब सखी झुलावत गावत गीत रसाल ॥ १ ॥
फरहरात पट नील पीत की अंचल चंचल चाल ।
मानौं परस्पर उमगि ध्यान छवि प्रकट भये तिहिं काल ॥ २ ॥
सलसलात अति पिय के सीस पर लटकत बेनी लाल ।
मानौं मुकुट बरहा विरही भये बोली वाक बेहाल ॥ ३ ॥
मोतिन-माल प्रिया के उर की पिय तुलसी-दल-माल ।
मानौं सुरसरी मिली जमुना तट मानौं विहग मराल ॥ ४ ॥
साँवल गौर परस्पर अति छवि सोभा विसद विसाल ।
निरखी 'गदाधर' कुँवर कुँवरी छवि मानौं भरयौ रस-जाल ॥ ५ ॥

४. धमार राग बिलावल—

सुन्दर श्याम सुजान शिरोमणि देहु कहा कहि गारी जू ।
बड़े लोग के औगुन बरनत सकुच होत जिय भारी ॥ १ ॥
को करि सके पिता को निरणय, जाति-पाँति को जानें ।
जिनके जिय जैसी बनि आवै तैसी भाँति बखानें ॥ २ ॥

माया कुटिल नटी तन चितयो कौन बड़ाई पाई।
उन चंचल सब जगत बिगोयो जहँ-तहँ भई हँसाई ॥ ३ ॥
तुम पुनि प्रगट होइ बारे तें कौन भलाई कीनी।
मुक्ति-वधू उत्तम जन लायक लै अधमन कों दीनी ॥ ४ ॥
बसि दस मास गर्भ माता के उन आशा करि जाये।
सो घर छाँड़ि जीभ के लालच ह्वै गये पूत पराये ॥ ५ ॥
बार ही तो गोकुल गोपिन के सूने गृह तुम डाटे।
ह्वै निशंक तहँ पेठि रंक लों दधि के भाजन चाटे ॥ ६ ॥
आपु कहाय बड़े के ढोटा भात कृपन लों माँग्यो।
मान भंग पर दूजे याचक नेक संकोच न लाग्यो ॥ ७ ॥
लरिकाई तें गोपिन के तुम सूने भवन ढंढोरे।
यमुना न्हात गोप-कन्यन के निपट निलज पट चोरे ॥ ८ ॥
बेन बजाय बिलास कियो बन बोलि पराई नारी।
वे बातें मुनि राजसभा में ह्वै निसंक बिस्तारी ॥ ९ ॥
सब कोउ कहत नंदबाबा को घर भरयो रतन अमोले।
गरे गुंजा, सिर मोर-पखौआ गायन के सँग डोले ॥१०॥
राजसभा को बेठनहारो कौन त्रियन सँग नाचे।
अग्रज सहित राजमारग में कुबजा देखत राचे ॥११॥
अपनी सहोदरा आपुही छल करि अर्जुन संग भजाई।
भोजन करि दासी-सुत के घर जादों जाति लजाई ॥१२॥
ले-ले भजे राजन की कन्या यह धौं कौन भलाई।
सत्यभामा जु गोत में ब्याही उलटी चाल चलाई ॥१३॥
बहनि पिता की सास कहाई नेक हू लाज न आई।
एते पर, दीनी जु विधाता अखिल लोक ठकुराई ॥१४॥
मोहन वशीकरन चट चेटक यंत्र मंत्र सब जाने।
तातें भले भले करि जाने भले भले जग माने ॥ १५ ॥

बरनौं कहा यथामति मेरी वेदहू पार न पावै ।
दास गदाधर प्रभु की महिमा गावत ही उर आवै ॥ १६ ॥*

५. राग मारू—

आज कहूँ ते या गोकुल में अद्भुत बरखा आई हो ।
मणिगण हेम हीर धारा की व्रजपति अति झर लाई हो ॥ १ ॥
बानी बेद पढ़त द्विज दादुर हिये हरखि हरियारे ।
दाधे घृत नीर क्षीर नाना रँग बहि चले खार पनारे ॥ २ ॥
पटह निसान भेरि सहनाई महा गरज की घोरें ।
मागध सूत बदत चातक पिक बोलत वंदी मोरें ॥ ३ ॥
भूषन बसन अमोल नन्दजू नर - नारिन पहराए ।
शाखा फल दल फूलन मानौं उपवन झालर लाए ॥ ४ ॥
आनँद-भरी नाचत व्रजनारी पहिरें रँग रँग सारी ।
बरन-बरन बादरन लपेटी विद्युत न्यारी-न्यारी ॥ ५ ॥
दरिद्र दावानल बुझे सबन के याचक सरोवर पूरे ।
बाढ़ी सुभग सुजस की सरिता दुरित तीर तरु चूरे ॥ ६ ॥
डहडह्यौ ललित तमाल बाल इक भई सबन मन फूले ।
छाया हित अकुलाय 'गदाधर' तक्यौ चरन को मूले ॥ ७ ॥

निदर्शन-स्वरूप में उपस्थापित इन कीर्तनों को पढ़कर ऐसा कौन कवि-हृदय होगा, जो 'गदाधरदास' की वर्णन-शैली, भाषा-सौष्ठव एवं भाव-लालित्य के संग उनके काव्य के प्रति अपेक्षित कोमल-हार्दिकवृत्ति की प्रशंसा न करेगा ?

यहाँ हमें विवश होकर कहना पड़ता है कि संस्कृत-साहित्य की अपेक्षा हिंदी-साहित्य पर गदाधरजी का विशेष प्रभाव-पूर्ण अधिकार

---

* इस पद की सरसता पर मुग्ध होकर गो० श्रीव्रजरायजी महाराज अहमदाबाद वालों ने इस पर संस्कृतटीका लिखी है, जो अभी अप्रकाशित है ।

था, जिसे निष्पक्षपात दृष्टि से अन्य लोगों को भी अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। तात्पर्य यह कि कीर्तन-कृति में गदाधरदासजी ने वास्तव में अपना कौशल दिखलाया है।

प्रचलित कीर्तनों के अतिरिक्त गदाधरदासजी का हिन्दी-साहित्य का कोई संग्रहात्मक अथच स्वतन्त्र ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं हुआ है। यह निश्चित है कि हिन्दी-भाषा के ऐसे उत्कृष्ट कवि का कोई ग्रन्थ अवश्य होना चाहिये। अस्तु।

ग्रन्थकार ने भगवत्तत्वदीपिका को छोड़ शेष दोनों ग्रन्थ वैष्णव सृष्टि के परितोषार्थ ही निर्मित किये हैं। भगवत्तत्वदीपिका का निर्माण भी निमित्त-मात्र अपने पुत्र रामदत्त के लिये होकर वैष्णव जनता के लिये ही है। इसमें साम्प्रदायिक तत्त्वों का तथा भगवत्स्वरूप का निरूपण किया गया है। 'हरिभजनमणि-मञ्जरी' तो वास्तव में एक अनुपम ग्रन्थ है, जिसकी रचना पद्यमयी है, और जो वास्तविक वैष्णवों की शुद्ध सात्त्विक कण्ठमालिका है। देश, काल, अधिकार, वेश, वृत्त, मनः शुद्धि, हेय तथा ज्ञेय एवं ध्येय स्वरूप इन नौ प्रकरणों के द्वारा भागवती सृष्टि का जो स्वरूप इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने अपनी सूक्ष्म प्रतिभा-तूलिका से चित्रित किया है, वह आधुनिक वैष्णव जनता के लिये प्रातःस्मरणीय एवं दर्शनीय है। 'हरिभजन-मणिमञ्जरी' के प्राण-तर्पण मधुर-आमोद का प्रचार-पवन से यदि प्रसार हो जाय, तो वैष्णवता लोकपावनरूप में विश्व की कल्याण-कारिणी हो जाय, इसमें सन्देह का लवलेश भी नहीं है।

अवशिष्ट-ग्रन्थ सम्प्रदाय-प्रदीप के सम्बन्ध में कुछ कहने के पूर्व यह उपयुक्त जँचता है कि इस प्रसङ्ग के अतिरिक्त अन्य ऐतिहासिक सामग्री गदाधरजी के विषय में हमें उपलब्ध नहीं हुई। इतना अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि इन्हें व्रजवास अत्यन्त प्रिय था। वृन्दावन में श्रीगोविन्ददेवजी ( सम्प्रति यह जयपुर में विराजते

हैं ) के मन्दिर में ग्रन्थ की पूर्ति करना इसका एक साधक प्रमाण है। संभव है, इनकी उत्तरावस्था वहीं व्यतीत हुई हो, इत्यादि। अस्तु। सम्प्रति जो कुछ मिला है, वही पर्याप्त है। मेरी तो दृढ धारणा है कि किसी महापुरुष अथवा ग्रन्थकार की ख्याति उसके लोक-साधारण चरित्र-चित्रण से नहीं, प्रत्युत उसके अलोक-सामान्य कार्य के निदर्शन से ही होती है। उपादेय घटनाओं के सिवा अन्य अनावश्यक घटनाओं के अन्वेषण से क्या लाभ हस्तगत होता है? ध्यान में नहीं आता। अस्तु। जितना वृत्तान्त ग्रन्थकार ने अपनी लेखनी से लेखबद्ध किया है, तावन्मात्र से ही उसकी परिस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है।

( २ ) ग्रन्थ-परिचय—

'सम्प्रदाय-प्रदीप' को ग्रन्थकार ने पाँच प्रकरणों में विभक्त किया है। प्रथमप्रकरण—एतन्मार्गीय पथिकजनतमोनिवर्तक, द्वितीय-प्रकरण—श्रीविष्णुस्वामिचरित, तृतीयप्रकरण—सर्वसम्प्रदायोत्पत्ति, चतुर्थ प्रकरण—श्रीवल्लभाचार्यचरित एवं पञ्चमप्रकरण—श्रीकृष्णाख्य ब्रह्मनिरूपण नाम से गुंफित किये गये हैं।

प्रथमप्रकरण में—ग्रन्थकर्ता ने सर्वप्रथम समय ( काल ) का निरूपण किया है। जिसमें स्पष्टतया पुराणादि के वचनों से सृष्टि और प्रलयावस्था का प्रतिपादन करते हुए, कलि की निःसारता और उसके कर्तव्य ( धर्म ) का विवेचन किया है। पुराणानुसार कलि को यव की उपमा देकर उसके आद्य समय की ससारता का जो प्रतिपादन है—जहाँ तक ध्यान है—वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। पुराणों में कलि का बीभत्स दृश्य और उसकी धर्म-पराङ्मुखता एवञ्च उसकी उत्तमता का भी वर्णन उपलब्ध होता है। परस्पर विरोधी इन वचनों का समाधान—जैसा इस यव की उपमा से होता है, वह स्मरणीय है। इसके अनन्तर विष्णु-भक्ति का विशद विवेचन है, और स्वधर्माचरण न कर सकने की अवस्था में भक्तों को किसी

प्रकार का प्रत्यवाय नहीं होता, इस बात को सप्रमाण प्रतिपादित किया गया है। इन सब उपक्रमों के द्वारा ग्रन्थकार ने श्रीवल्लभाचार्य-चरणों के समय की सुन्दरता और उनके कलिकाल में इस समय के प्रादुर्भाव का जो अनुपम सयुक्तिक प्रतिपादन किया है—कहना पड़ेगा—यह ग्रन्थकार की अलौकिक सूझ है। इस प्रकार भक्तिमार्ग-पथिकों के अज्ञानान्धकार-निवर्तक नामक प्रथमप्रकरण में, वास्तव में, अन्वर्थक विषयों का संकलन हुआ है।

द्वितीयप्रकरण में—श्रीविष्णुस्वामी के चरित का वर्णन है, जिसमें उनकी मानसिक प्रवृत्ति का झुकाव भगवान् की ओर होता है, और वे सर्ववेदवेदान्त-तात्पर्य स्वरूप किसी परमतत्त्व की गवेषणा करते हैं। फलस्वरूप अपने अथक परिश्रम से उन्हें भगवत्सा-क्षात्कार होता है। आगे चलकर भगवत्सेवा-प्रणालिका—सेव्य-सेवक, भक्त-भगवान् के परस्पर-संलाप ( प्रश्नोत्तर-प्रणाली ) से भक्ति-मार्ग की प्रणाली—निर्धारित होती है। इसी प्रकरण में दैवी और आसुरी सृष्टि की विभिन्नता और भक्तिभाव की प्रधानता का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार ग्रंथकार ने विष्णुस्वामी और भगवान्, इन दोनों की उक्ति-प्रत्युक्ति से बहुत कुछ सांप्रदायिक तत्त्वों का स्पष्टीकरण किया है।

तृतीयप्रकरण में—विष्णुस्वामी-संप्रदाय के आचार्य बिल्वमङ्गल के चरित से उपक्रम किया गया है। बिल्वमंगल के विषय में जो किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं और उन्हें एक ही समझकर जो विचार-विभ्रम फैल गया है, उसका इससे निराकरण होता है, जिससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि बिल्वमंगल तीन हुए हैं। अतः संप्रदाय के आचार्य बिल्वमंगल कौन और कैसे थे, इसमें संदेह नहीं रह जाता। इसके अनन्तर मायावाद की उत्पत्ति के विषय में पुराणानुसार भ-वान् विष्णु और शंकर का वार्तालाप हुआ है—जिसके फल-स्व

इतिहास-लेखक इसको सत्य मानते हैं। हमें इसके उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं है। हम तो यह भी कहते हैं कि वल्लभाचार्य का कनकाभिषेक विद्यानगर में ही नहीं हुआ, उनको यह सम्मान द्वितीय बार भी प्राप्त हुआ है। उल्लेख इस प्रकार है—

"रामभद्रो यदा राजा राजते वै स्वपत्तने

तदा श्रीवल्लभाचार्यः कृपया तु समागतः ॥ २९ ॥

❀ ❀ ❀

प्रसन्नेन तदा राज्ञा सुवर्णेनाभिषेचितः ॥ ४० ॥

( प्रताप-वंशार्णव १० तरङ्ग ) अस्तु ।❀

श्रीवल्लभाचार्य के चरित्र में कुछ अलौकिक भक्तों का प्रसंगोपात्त उल्लेख है, और कुछ भगवत्साक्षात्कार की लीला के अनुभवों का। इसके अनन्तर संन्यासाश्रम ग्रहण करने के बाद अपने प्राकट्य का कार्य पूर्ण समझकर उनके इस लोक के परित्याग का वर्णन किया गया है।

पञ्चम प्रकरण में—ग्रन्थकर्ता ने श्रीवल्लभाचार्य के प्रमाण-स्वरूप प्रस्थानचतुष्टय( वेद-गीता-व्याससूत्र-भागवत ) के द्वारा तथा तदविरोधी अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रमाणपुरःसर सयुक्तिक, शंका-समाधानपूर्वक यह निर्धारित किया है कि यशोदोत्संगलालित भगवान् श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व, परब्रह्म एवं च पूर्णपुरुषोत्तम हैं, वही इस जगत् ( नामरूपात्मक सृष्टि ) के कर्ता, धर्ता, संहर्ता हैं। वही देवताधिदेव हैं, और इन्हीं की उपासना, भक्ति ही सार्वदिक् एवं सर्वदा कर्तव्य है। इन्हीं की शरणागति से जीवों को वास्तविक श्रेयः प्रेय की प्राप्ति होती है।

इसके अनन्तर प्रस्तुत प्रकरण में ग्रन्थकार ने अपना संक्षिप्त परिचय प्रदान करते हुए ग्रन्थ की समाप्ति की है।

---

❀ ओड़छा नरेशों का प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थ, भारत जीवन प्रेस काशी में सन् १९०४ में मुद्रित, और ओरछा स्टेट द्वारा प्रकाशित।

सं० प्रदीप के उक्त, क्रमशः वर्णित पाँचों प्रकरणों का पृथक्-पृथक् वस्तुतत्त्व वर्णन करने के अनन्तर समस्त ग्रन्थ पर एक सरसरी दृष्टि डालने के लिये हम प्रेमी पाठकों से निवेदन करेंगे। प्रस्तुत ग्रन्थ—जैसा प्रथम निर्धारित हो चुका है—ग्रन्थकार की सर्व-प्रथम रचना है, अतः उसकी भाषा-शैली अथच शब्द-विन्यास की समालोचना करना यद्यपि अनावश्यक है, तथापि इतना कहना पड़ता है कि सं० प्रदीप की भाषा उतनी साँचे में ढली हुई नहीं है, जितनी उसे होनी चाहिये। वाक्य छोटे छोटे एवं परस्पर आवश्यकता से अधिक सापेक्ष हैं। अस्तु। यह कोई काव्य-ग्रन्थ तो है नहीं, जिसमें इन बातों पर सूक्ष्म दृष्टिपात किया जाय, यहाँ तो सम्प्रदाय की इतिवृत्त-विषयक रूप-रेखा का अंकित कर देना ही ग्रन्थकार का मुख्य ध्येय है, जिसमें पूर्णतया नहीं, तो अधिकांश में वह अवश्य सफल हुआ है। जिस विषय को ग्रन्थकर्ता ने जितना आवश्यक एवं उपादेय समझा है, उसका उतना ही विशद वर्णन किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का अधिकांश भाग ( २—३—४ प्रकरण ) साम्प्रदायिक इतिहास-स्वरूप है, और शेष प्रथमप्रकरण उसकी भूमिका एवं अन्तिमप्रकरण उसका उपसंहार है। अतः यदि यह कहा जाय कि यह ग्रन्थ सम्प्रदाय का एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है, तो कोई अपराध नहीं होगा।

आधुनिक इतिहासकारों तथाच कई समालोचकों को हमारे इस कथन में विप्रतिपत्ति होना स्वाभाविक है, कारण है—दृष्टिविन्दु का पार्थक्य। आज जिस लेखन-शैली को इतिहास-संज्ञा दी जाती है, वह पाश्चात्य दृष्टि-बिन्दु से ही, भारतीय दृष्टि-बिन्दु कुछ इससे विलक्षण ही है। इस पर हम कुछ विशेष प्रकाश डालना चाहते हैं—

प्रायः कुछ पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित व्यक्तियों की धारणा-सी

हो गई है कि जिस जीवन-चरित्र में सन्-संवत् का उल्लेख हो, वही वास्तविक इतिहास है, इसके विपरीत जीवन की मुख्य घटनाओं का उल्लेख अप्रामाणिक एवं गल्पस्वरूप । यदि यही ठीक है? तो कहना पड़ेगा कि महाभारत एवं रामायण भी लचित-लक्षण से कोसों दूर होने के कारण भारतीय इतिहास के ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते । समस्त संस्कृत-साहित्य इन्हें इतिहास कहता आया है, और पाश्चात्य सभ्यता इसे गल्प-कथानक से अधिक नहीं मानती, यद्यपि समस्त प्राचीन इतिवृत्त का दोहन इसी से ही किया जाता है ।

कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय इतिहासलेखन-पद्धति केवल घटना-वैचित्र्य को प्रधानता देती है, और आंग्ल-पद्धति घटना-निरूपण के प्रथम समयोल्लेख को । इसी कारण दोनों में महान् अन्तर आ पड़ता है । आश्चर्य यह होता है कि भारतीय इतिहास-लेखक इस पर ध्यान दिये बिना ही, इस प्रकार के इतिवृत्त के ग्रन्थों को अप्रामाणिक उद्घोषित कर देते हैं, और इसका एकमात्र कारण यह उपस्थित करते हैं कि अमुक ग्रन्थ में घटना के साथ उसके सन्-संवत् का निर्देश नहीं है ।

इसी हेतु से कई महानुभाव 'सम्प्रदाय-प्रदीप' को भी इतिहास-ग्रन्थ नहीं मानते, और केवल उसकी उल्लिखित घटनाओं को कथानक का रूप देकर अपने उत्तरदायित्व से अलग हट जाते हैं, पर हम इस आंग्लपद्धति से विमत हैं । इसमें एक कारण यह भी है कि यदि ऐतिहासिक ग्रन्थों की प्रामाणिकता समयोल्लेख से ही मानी जा सकती है, तो आंग्लपद्धति से लिखे गये इतिहास-ग्रन्थ भी वास्तविक इतिहास नहीं है, क्योंकि उनमें भी सन्-संवत् के अति-रिक्त मास, तिथि एवं समय ( टाइम ) का उल्लेख नहीं है । जहाँ आधुनिक इतिहास ( जो केवल अधिक से अधिक ३-४ हजार वर्ष से पूर्व की घटनाओं का परिचय नहीं देता ) तिथि, मास एवं

टाइम का निर्देश करना अनावश्यक समझता है, वहाँ भारतीय-पद्धति से लिखा गया इतिहास-ग्रंथ ( महाभारत-रामायण, पुराण आदि— जो अनेक कल्प-कल्पान्तरों की घटनाओं का प्रतिपादन करते हैं ) यदि सन् संवत् के लेख से रहित है, तो क्यों अप्रामाणिक ठहरते हैं ? समान दोष-ग्रस्त होने पर भी एक को प्रामाणिक और अन्य को अप्रामाणिक ठहरा देने में केवल धाँधली ही कही जा सकती है। दो-तीन हज़ार वर्ष का इतिहास यदि समय के स्वल्पविभाग ) तिथि-मास ) को अनुपयुक्त समझता है, तो कल्प-कल्पांतर का इतिहास सन् संवत् को भी उसी दृष्टि से देखता है। अतः कोई प्रबल कारण नहीं है कि केवल घटना का उल्लेख करनेवाले ग्रंथों को हम प्रामाणिक इतिहास-ग्रंथ न मानें।

इसी धारणा के अनुसार हम संप्रदाय-प्रदीप को भी एक प्रमाणिक ऐतिहासिक ग्रंथ मानते हैं। इसका स्पष्टीकरण आगे चलकर करेंगे।

संप्रदाय-प्रदीप को इतिहास-ग्रंथ मानने में कई सज्जन यह आपत्ति उठा सकते हैं कि इसमें वर्णित घटनाओं का पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित काल से विरुद्ध पड़ता है। इसमें हमें भी कोई दुराग्रह नहीं है। इसके लिये कहना पड़ता है कि केवल तृतीय प्रकरण में वर्णित एकाध घटना ही इस दोष से ग्रस्त है, और वह है—अणहिलपट्टन के राजा कुमारपाल और जैनाचार्य हेमसूरि का वृत्तांत। इसके साथ ही देव-प्रबोध एवं कुमारिलभट्ट का हेमसूरि तथा शंकराचार्य दोनों के साथ समकालीनता का निर्देश भी। इतिहास आद्य शंकराचार्य एवं कुमारिलभट्ट को समकालीन कहता है, और हेमसूरि को उनसे अर्वाचीन। परन्तु गदाधरदासजी ने हेमसूरि के साथ कुमारिलभट्ट का और कुमारिलभट्ट का शंकराचार्य के साथ संलाप कराकर तीनों को एककालीन निर्धारित कर दिया है। यह विषय विवादास्पद है, क्योंकि शंकराचार्य का समय इदमित्थतया निर्णीत

नहीं किया जा सका है। अतः गदाधरदासजी ने यदि अनुश्रुत घटना का उल्लेख कर दिया है, तो वे दोषभाक् नहीं है। उनका तात्पर्य केवल वैदिक धर्म का नाश, परधर्म (जैन-बौद्ध) का विकास और इसके अनन्तर पुनः वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा का वर्णन करने से है। उन्हें तो संक्षेप से समस्त संप्रदायों की उत्पत्ति का वर्णन कर देना था, जो उन्होंने परम्पराश्रुत होने से यथाशक्य कर दिया है। भट्टाचार्य के विषय में—

"किं करोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति।
मा विषीद वरारोहे ! भट्टाचार्योऽस्मि भूतले ॥"

यह श्लोक प्रसिद्ध है। जो स्वयं अपने वर्ण्य-विषय के संबोधन 'वरारोहे !' से किसी का संकेत करता है। इतिहास इसका निर्णय करें कि—यह 'वरारोहा' कौन थी, जिसको भट्टाचार्य ने सान्त्वना प्रदान की थी। क्या यह सम्बोधन वैदिकधर्म के उद्धार की अभिलाषिणी एवं विधर्म-प्रचार से विषण्णहृदया किसी राज-महिषी का संकेत नहीं करता ? और क्या इससे कुमारपाल की राज-महिषी का ग्रहण नहीं किया जा सकता ? अस्तु। जो कुछ हो, हम इसकी विशेष ऊहापोह में न कर इसे एक धार्मिक परिवर्तन की घटना ही समझते हैं। ऐसा होने पर ग्रंथकार ने यदि उसे आवश्यक समझकर ग्रंथ में सन्निविष्ट कर दिया है, तो कोई महापाप नहीं किया है ! इसी प्रकार की एक घटना शंकराचार्य के विवाहोल्लेख की है। हम इसे सत्य अथवा असत्य दोनों में से कुछ नहीं कह सकते। इसी प्रसंग में गदाधरजी ने एक पद्य उद्धृत किया है, जो शंकराचार्य और उनकी पत्नी के मुख से आधा-आधा उच्चारित हुआ है। वह है—

"निमज्जता नाथ ! भवार्णवेऽन्तः
चिरान्मया पोत इवासि लब्धः ॥
मयाऽपि लब्धं भगवन्निदानी—
मनुत्तमं पात्रमिदं दयायाः ॥"

ये दोनों श्लोक गदाधरदासजी के स्वरचित नहीं है, उन्होंने इन्हें कहीं से प्राप्त किया, यह कहा नहीं जा सकता। इसके लिये उनके पास अवश्य किसी प्रकार की प्रामाणिकता होगी, जो पुरातत्त्वज्ञों की गवेषणा का विषय है।

इसी प्रकार एक उलझा हुआ विषय, मध्वाचार्य का ब्रह्मचर्यावस्था में शंकराचार्य की शिष्यता के उल्लेख का भी है। इसको दोनों संप्रदायानुयायी एवं मर्मज्ञ ही हल कर सकते हैं। हम नहीं कह सकते कि यह सत्य है या असत्य अथवा प्रक्षिप्त।

परस्पर विसंवादी उक्त समग्र घटनाओं का समाधान तो केवल इसी से हो सकता है कि ग्रंथकार ने परंपराद्वारा श्रुत प्राचीन घटनाओं को इस एक प्रकरण में गुम्फित कर दिया है। ग्रंथकार का विशेष वर्ण्य-विषय तो श्रीवल्लभाचार्य का चरित्र-निरूपण है, जिसके सम्मुख तृतीयप्रकरण एक प्रकार से उपोद्घातरूप माना जा सकता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, चतुर्थ-प्रकरण इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य है, जिसमें ग्रन्थकर्ता ने कुछ समय पूर्व प्रादुर्भूत श्रीवल्लभाचार्य की जीवनी का यथाश्रुत विशद उल्लेख किया है। यह कहना असामयिक न होगा कि श्रीवल्लभाचार्य के जीवन-चरित को सर्व-प्रथम लेखबद्ध करने का किसी ने प्रयत्न किया है, तो गदाधरदासजी ने ही। गदाधरदासजी ने आचार्य-चरणों के चरित्र-वर्णन द्वारा यदि स्वलेखनी को पवित्र न किया होता, तो आज हम वैष्णव ही क्या, समस्त इतिहास-प्रेमी जन उनके अलोक-सामान्य आदर्श चरित का किस रूप में दर्शन कर अपने को कृतपुण्य समझते, कहा नहीं जा सकता ?

श्रीवल्लभाचार्य के जीवन-चरित्र का उल्लेख इस ग्रन्थ के प्रथम अन्य किस ग्रन्थ में किया गया है, यह हमें ज्ञात नहीं, न इसके लिये हमारे पास कोई प्रमाण ही है। इस विषय में हम कुछ विशेष रूप में कह देना अनुचित नहीं समझते—

'चौरासी-वैष्णव' और 'दो सौ बावन' वैष्णवों की वार्ता भी जो भाषा-साहित्य में सम्प्रदाय की सर्वप्रथम उपादेय वस्तु मानी जाती है—इस ग्रन्थ के बहुत पीछे की रचना है। कहना होगा कि वह इस ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकरण में वर्णित कुछ भक्तों के कथानकों की शैली पर ही पल्लवित हुई है, क्योंकि इसके कर्ता श्रीगोकुलनाथजी का जन्म सं० १६०८ है, और सं० प्रदीप की रचना १६१० में ही हो गई है।

'प्रभु-चरित्र-चिन्तामणि' नामक (एक अप्रकाशित साम्प्रदायिक चरित्र-विषयक) ग्रन्थ के कर्ता श्रीगुसाईंजी के पञ्चमपुत्र श्रीरघुनाथजी के पुत्र श्रीदेवनन्दनजी ( जन्म सं० १६३४ ) प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर निम्न प्रकार से प्रकाश डालते हैं—

"एवंविध महानुभाव श्रीवल्लभाचार्य—तदात्मज-चरित कथान्तरं तु गदाधरद्विवेदि विप्रवैष्णवादिकृत ग्रन्थादवबोद्धव्यम्"

(प्र० च० चि०)

तात्पर्य यह कि उन्होंने भी अनुश्रुत कथाओं का संग्रह कर विशेष ज्ञातव्य के लिये इसी ग्रन्थ की ओर अङ्गुल्या निर्देश कर दिया है।

'यदुनाथ-दिग्विजय', 'वल्लभ-दिग्विजय' आदि जितने भी एतद्विषयक ग्रन्थ हैं, वे इस ग्रन्थ की प्राचीनता को कालत्रय में भी नहीं प्राप्त कर सकते। इन सब ग्रन्थों के साथ ही मुरलीधरदास का 'श्रीवल्लभ-चरित' नामक ग्रन्थ भी है, परन्तु वह भी इस कोटि पर नहीं आता। तात्पर्य यह कि वल्लभाचार्य के इतिहास जानने के लिये सर्वप्रथम यही ग्रन्थ सम्मुख उपस्थित होता है, अतः भारतीय इतिहास-लेखक इसका ही आश्रय लेते चले आये हैं। आंग्ल-इतिहास-लेखकों के लिये तो 'सम्प्रदाय-प्रदीप' ही जहाज़ का प्रकाश-पूर्ण दीपक है। जिस इतिहासकार ने अँगरेज़ी में वल्लभाचार्य का चरित लिखा है—उसने गदाधरदास के सम्प्रदाय-प्रदीप को अवश्य प्रमाण-स्वरूप में माना है। यहाँ यह कहना उपयुक्त जान पड़ता है कि 'सम्प्रदाय-प्रदीप' का नाम

कहीं-कहीं 'सम्प्रदायकुल-दीपिका' भी इतिहासकारों ने लिखा है। प्राचीन से प्राचीन पुस्तक में भी इस नाम का उल्लेख नहीं पाया जाता, अतः यह नाम कब और कैसे प्रचलित हुआ, हम नहीं कह सकते।

इन सब वक्तव्यों का तात्पर्य यह कि श्रीवल्लभाचार्य के चरित्र के लिये यदि कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ है, तो सम्प्रदाय-प्रदीप ही। जिन्हें इस पर आपत्ति हो, वे कृपया निर्देश करें कि इस विषय के जानने के लिये अन्य कौन सा प्राचीन ग्रन्थ प्रामाणिक है? यद्यपि प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में सर्वांशता को छोड़कर अधिकांशता का बहाना किया जा सकता है, तथापि अधिकांश में तो हमें इसको अवश्य प्रामाणिक मानना ही पड़ेगा, और ऐसा न मानने के लिये कोई प्रबल प्रमाण उपस्थित नहीं किया जा सकता। अस्तु।

उक्त ग्रन्थ के प्रतिपाद्य-विषयों की सारांशरूपेण समालोचना करना आधुनिक साहित्य-समालोचकों की कृति है, अतः अनुवादक के सम्बन्ध से हम प्रस्तुत ग्रन्थ की समालोचना न कर उसके विषय में कुछ अपने हार्दिक विचार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझते हैं। कारण स्पष्ट है, और वह है—'वाङ्मुख' लिखने का भार।

'सम्प्रदायप्रदीप' जैसा कि इसके नाम से विदित होता है, पुष्टि-सम्प्रदाय के प्रति फैले हुए अज्ञान-तिमिर के विनाशार्थ 'प्रदीप' है। सम्प्रदाय शब्द का उपयुक्त अर्थ यह होता है कि जिसमें गुरु के द्वारा यथाविधि ( सम्यक् प्रकार से ) शास्त्रप्रतिपादित धार्मिक दीक्षा प्रदान की जाय। प्रदीप शब्द का तात्पर्य ऐसे दीप से है, जिसका प्रकाश आन्तर अज्ञान-तम का विनाशक हो, और जो चिरस्थायी होते हुए अधिकांश जनता का विशेष उपयोगी हो। सम्प्रदाय शब्द से यहाँ वैष्णव-सम्प्रदाय का ग्रहण किया गया है, और उसमें भी 'पुष्टि' सम्प्रदाय का।

अज्ञान विजृम्भण के कारण कितने ही लोगों को 'पुष्टि' शब्द से एक प्रकार की घृणा है—वे 'पुष्टि-सम्प्रदाय' का तात्पर्य यही समझते हैं कि—जिस सम्प्रदाय में मौज़, शौक़, भोग-विलास तथा शारीरिक सुख-भोग को प्रधानता दी गई हो वही 'पुष्टि-सम्प्रदाय'। इस कथन में 'प्रधानता' शब्द तो हमारा है—वे तो उसके स्थान पर 'परमपुरुषार्थ' शब्द का उपयोग करते हैं। कहना न होगा कि इस 'अतिविमलप्रज्ञा' ने बड़े-बड़े धुरन्धर इतिहास-लेखकों, विद्वानों तथा समालोचकों को भी ऐसे चक्कर में डाला है कि वे स्वयं अब भी अपनी धारणा बदलना नहीं चाहते। प्रसंगोपात्त हमें यहाँ 'पुष्टि' शब्द की कुछ विवेचना कर देना स्थाने प्रतीत होता है:—

जिन्होंने वेदों का स्वाध्याय किया है, उनसे अतिरोहित है कि वेद में कितने ही स्थलों पर 'पुष्टि' शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः इसकी अवैदिकता पर सन्देह कहना तो वृथा है। "त्रि यम्बकं यजामहे" इस मन्त्र में 'पुष्टिवर्धन' इस नाम से "एवं मयि पुष्टि पुष्टिपतिर्दधातु" इस मंत्र में 'पुष्टिपति' इस नाम से ईश्वर को सम्बोधित किया गया है, और पुष्टि प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। यहाँ पर पुष्टि शब्द का लौकिक 'शारीरिक पुष्टि' अर्थ लगाना तो अध्यात्मवादी भारतवर्ष की गुरुता पर आघात करना है। भारतवर्ष की 'पुष्टि' शब्द का अर्थ तो कुछ दूसरा ही है, और वह है अलौकिक अथवा पारलौकिक पुष्टि।

इस वैदिक 'पुष्टि' शब्द का स्पष्टीकरण श्रीमद्भागवत से होता है—जहाँ भगवान् की दशविध लीलाओं का उल्लेख है, वहाँ लिखा है—

"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः।"

पुराणों के अधिकांश शब्द अपने प्रचलित अर्थ की ओर संकेत न कर

निर्धारित अर्थ को उद्बोधित करते हैं, उनका एक विशेष ही अभिप्राय होता है। जिस प्रकार उक्त श्लोक में 'स्थानं' शब्द का अर्थ "स्थिति-वैंकुण्ठविजयः" होता है, उसी प्रकार "पोषणं तदनुग्रहः" से 'पुष्टि' शब्द का तात्पर्य निकलता है। "पुष्लु = पोषणे" धातु से एक ही अर्थ में भिन्न-भिन्न प्रत्यय करने पर 'पोषण' और 'पुष्टि' शब्दों की सिद्धि होती है।

इस प्रकार 'पुष्टि' शब्द का आपादचूड-पर्यालोचन करने पर उसका तात्पर्य निकलता है—'भगवदनुग्रह'। यह भगवदनुग्रह अर्थ महार्घ होने के कारण सर्वसाधारण को विशेष अक्ल ख़र्च करने पर भी प्राप्त नहीं होता, और इसी कारण अधिकांश जन इस अर्थ में निर्भ्रान्त नहीं हैं। अस्तु।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि—'पुष्टि-सम्प्रदाय' वह सम्प्रदाय जिसमें भगवदनुग्रह प्राप्त होता हो, अथवा जिसके द्वारा भगवदनुग्रह प्राप्त किया जा सकता हो। यहाँ इस प्रकार के विशेष कथन की आवश्यकता नहीं है कि भक्ति-मार्ग ही इस प्रकार का सरल एवं सर्व-सुलभ निष्कण्टक मार्ग है, जिसके लिये कहा गया है—

"धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्नपतेदिह।"

जिस प्रकार भक्ति, साधन साध्य भेदों से द्विविध है, उसी प्रकार निर्गुण एवं सगुण भेद से भी द्विविध है। सकाम तथा व्यवहित भक्ति को सगुण-भक्ति एवं निष्काम तथा अव्यवहित भक्ति को निर्गुण-भक्ति कहा गया है। "मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।" इस प्रामाणिक दृष्टान्त से समुद्र की ओर गंगा के सतत धारा-प्रवाह के समान, भगवान् के प्रति सतत मानसिक-गति ( भक्ति-भावना ) का नाम ही निर्गुण ( निष्काम ) भक्ति है, यह सिद्ध होता है। गंगा का प्रवाह किस कामना से समुद्र की ओर अग्रसर

हो रहा है ? क्या उसे कोई भौतिक अवरोध है ? क्या उसे प्रबल-बन्ध के द्वारा अपने उपयोग में लाने के लिये किसी दूसरे मार्ग पर चढ़ा देने पर भी, वह अपनी प्रवाह-शीलता एवं अन्ततः उदधि-मिलन की उत्कण्ठा को स्थगित कर देता है ? इस प्रश्न का उत्तर 'न' के रूप में मिलता है। इसी प्रकार भक्त के हृदय में भी भक्ति का स्वरूप होना चाहिये। गीता का निष्काम-कर्म-योग इसी का निदर्शन है। कहना न होगा कि इस प्रकार की निष्काम-भक्ति कलिकाल में अन्य किसी आचार्य ने अभिव्यक्त नहीं की। श्रीमद्वल्लभाचार्य ने ही इस भक्ति को स्थापित कर वास्तविक पुष्टि-मार्ग का स्वरूप जनता के सम्मुख उपस्थित किया। अतः इनके अतिरिक्त अन्य किसी को इसका श्रेय प्राप्त नहीं हो सकता। एतदर्थ ही गदाधरदासजी ने सम्प्रदाय-प्रदीप की रचना कर भक्ति-मार्ग का विशद स्वरूप, उसकी प्रारम्भिक दशा एवं उसके संचालकों के चरित्र का वर्णन किया है, यह निष्कर्ष निकलता है। इस हेतु से उनका प्रयत्न वस्तुतः श्लाघ्य है।

प्रस्तुत प्रसंग में विष्णुस्वामी की भक्ति के विषय में कुछ कहकर हम इस कथन को समाप्त करेंगे।

द्वितीय प्रकरण में ग्रन्थकार ने विष्णुस्वामी के चरित्र का वर्णन किया है, जिन्हें इस लोक में भक्ति का सर्वप्रथम आचार्य-पद प्रदान किया जाता है। विष्णुस्वामी वास्तव में इस भक्ति-मार्ग के प्रथम आचार्य थे। विल्वमङ्गलाचार्य के परामर्शानुसार श्रीवल्लभाचार्य ने उनके उच्छिन्न सम्प्रदाय की नींव दृढ की, और उसे लोक-कल्याणार्थ प्रचारित किया। श्रीवल्लभाचार्य विष्णुस्वामिमत के अनुवर्ती थे, यह उनके निबन्ध की इतिश्री से स्वयं विदित हो जाता है। यथा—

"इति श्रीकृष्ण-व्यास-विष्णुस्वामिमतवर्ति श्रीवल्लभदीक्षित-विरचिते शास्त्रार्थकथनं प्रथमं प्रकरणम्।"

गदाधरदासजी भी अपने द्वितीय ग्रंथ 'भगवत्तत्वदीपिका' में इस विषय में इसका स्पष्ट उल्लेख करते हैं। वहाँ लिखा है—

"तत्रायं विष्णुस्वामिप्रदर्शितोऽयं मार्गः।"

"तदनवमौ तस्यात्मजौ श्रीगोपीनाथविठ्ठलेश्वरौ। श्रीवल्लभेन स्वीकृत्य श्रीविष्णुस्वामिप्रदर्शितोऽयं सम्प्रदायस्तयोरुपदिष्टः।"

इसकी पुष्टि में विष्णुदासजी के दो प्राचीन कीर्तन भी उल्लेखनीय हैं, जिनमें वे आचार्य-चरणों का गुण गान करते हैं। वे हैं:—

"जो पै श्रीवल्लभ प्रकट न होते। भूतल-भूषण विष्णुस्वामि पथ श्रृङ्गार शास्त्र सब रोते॥ × × ×॥ 'विष्णुदास' सिद्धान्त बिना यह उर-कपाट क्यौं खोते॥

"वंदेऽहं तं विमलहुताशम्॥ × × ×॥ श्रीलक्ष्मणसुत विष्णुस्वामिपथ श्रुतिवचमंडन कहै 'विष्णुदासम्'॥" इत्यादि।

यद्यपि कुछ सज्जन इसका विरोध करते हैं, पर यह निश्चय है कि श्रीगुसाईंजी के समय यह अवश्य माना जाता था कि यह सम्प्रदाय श्रीविष्णुस्वामी का ही है। श्रीगुसाईंजी के शिष्य एवं सेवक गदाधरदासजी जैसे व्यक्ति किसी अप्रामाणिक बात को न तो मान ही सकते थे और न लिख ही सकते थे। यदि वे अपने मन से इसे पुत्र देवकीनन्दनजी लिखते तो इसका विरोध अवश्य होता, और श्रीरघुनाथजी के अपने ग्रन्थ 'प्रभु-चरित्र-चिन्तामणि' में गदाधरदासजी को प्रामाणिक व्यक्ति स्वीकार न करते। अतः यह निर्विवाद है कि यह भक्ति-सम्प्रदाय विष्णुस्वामी का ही है।

कुछ लोग जो इसके विरोधी हैं—वह भी प्रमाण-हीन नहीं है। उनका कथन है कि श्रीवल्लभाचार्यजी-कृत श्रीसुबोधिनीजी में कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं, और शुद्धाद्वैत के कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जिनसे दोनों में परस्पर विभेद मानना ही पड़ता है। अस्तु।

यह विरोध कोई मुख्य नहीं रखता, कारण कि दोनो के सिद्धांतों

में कुछ तात्त्विक भेद अवश्य है, परंतु यहाँ हम सम्प्रदाय के मूल भक्ति की बात कह रहे हैं, सिद्धांत की नहीं। यह तो निश्चित है कि समस्त आचार्यों के परवर्ती होने के कारण उनके सिद्धांतों का पूर्वापर विवेचन करने का अवसर श्रीमदाचार्यचरणों को ही प्राप्त हुआ है। उन्होंने वास्तविक वेदार्थ को शुद्धाद्वैतमत का स्वरूप दिया, और जो त्रुटियाँ, आपत्तियाँ अथवा प्रमाद किंवा आग्रह अन्य आचार्यों के सिद्धांतग्रंथों में दीख पड़े या थे, उनसे अपने सिद्धांत को सर्वथा विशुद्ध रक्खा। अतः विष्णुस्वामी के सिद्धांतों में और श्रीवल्लभाचार्य के सिद्धांतों में कुछ-कुछ भेद होना संभावित है। इसी प्रकार निर्गुण-सगुण-स्वरूप के भेद से भक्ति के स्वरूप में भी आंशिक विभिन्नता हो सकती है, पर भक्ति के मूल स्वरूप में किसी प्रकार का भेद नहीं आ सकता। हो सकता है कि विष्णुस्वामी ने सगुण-भक्ति का प्रसार किया हो, पर श्रीवल्लभाचार्य ने तो निर्गुण-भक्ति का ही विस्तार किया, इसमें संदेह नहीं है। बस इसी बात को लेकर सम्प्रदाय-भेद की बात कही जाती है।

मूल भक्ति-सम्प्रदाय एक ही होने के कारण गदाधरदासजी ने भी भक्ति के चार सम्प्रदायों में श्रीविष्णुस्वामि-सम्प्रदाय का ही उल्लेख किया है, और आगे चलकर श्रीवल्लभाचार्य के सम्प्रदाय को निर्गुणता के कारण विलक्षण बतलाते हुए भी मूल स्वरूप में उसे विष्णु-स्वामी का सम्प्रदाय ही माना है। इसी कारण द्वितीय-प्रकरण में विष्णुस्वामी-चरित्र का उल्लेख किया गया है, और तृतीय तथा चतुर्थ प्रकरण में बिल्वमंगल का प्रासंगिक वर्णन करते हुए उनके वार्तालाप में इसका दिग्दर्शन भी करा दिया है।

'सम्प्रदाय-प्रदीप' के वास्तविक स्वरूप के दर्शन उसके अध्ययन से ही हो सकते हैं, यहाँ तो कुछ धूसर रंग से उसकी रूप-रेखा अंकित करने का प्रयत्न किया गया है। आशा है, सहृदय पाठक उसके वास्त-

विक स्वारस्य एवं स्वानंद की प्राप्ति के लिये कुछ श्रम उठावेंगे। यह निश्चित है कि उनका यह श्रम निष्फल न जायगा।

( ३ ) ग्रंथ का अनुवाद—

'सम्प्रदाय-प्रदीप' का निर्माण वैष्णव जनता के अज्ञानान्धकार की निवृत्ति एवं मानसिक भक्ति-भावनाओं की प्रवृत्ति के लिये हुआ है। कहना न होगा कि भारतीय जनता अपनी संस्कृति तथा सभ्यता के अनुरूप पुरातन काल से ही किसी तत्त्व-निर्णायक ग्रंथ को अमर-वाणी की वेश-भूषा, रंग-ढंग और हास-विलास के रूप में ही देखती, पढ़ती और सुनती चली आ रही है। यद्यपि समय का प्रवाह अपनी चालढाल के साथ वेश-भाषा दोनों का परिवर्तन करता चला आता है, पर "सत्यं शिवं सुन्दरं" का सनातन धर्म अपनी एकरसता को अब भी प्रकट करता जाता है। अधिकांश में स्थायी साहित्यसम्पत्ति की रचना हमारी उसी भाषा में होती चली आई है, जिसे हम मातृभाषा न कहकर देवभाषा से सम्बोधित करते चले आए हैं।

इसी हमारी प्राचीन सभ्यता से प्रेरित होकर पं० गदाधरदासजी ने भी अपनी रचना संस्कृत-भाषा में निबद्ध की है। यद्यपि वह सर्व-साधारण के लिये की गई है, वैष्णव-धर्म का अनुयायी, उसका समझनेवाला और उसे सम्मान देनेवाला अधिकांश समाज उस देव-वाणी से यद्यपि अपरिचित है, तथापि वह उसकी उपयोगी और संग्राह्य उपादेय वस्तु अवश्य है।

भारतीय संस्कृति के अनुसार साहित्य की स्थिरता संस्कृत-भाषा के रूप में स्वीकृत की जाने पर भी सर्वसाधारण जनता अत्यधिक प्रेम से उसका आदर करती चली आई है। एतदर्थ मूल ग्रंथ के आशय को जनता के उपयोग में परिवर्तित कर देने का कार्य उन विद्वानों का होता है, जो लोक-सेवा का उद्देश्य रखकर कुछ साहित्य-सेवा करते हैं। यद्यपि हमारी योग्यता इस प्रकार की नहीं है,

तथापि कुछ करने से ही वह अविगत हो सकता है, यही सोचकर इस ग्रंथ का हिंदी अनुवाद करने का भार मुझे स्वीकार करना पड़ा है। इसमें सबसे बड़ा कारण श्रीमान् विद्या विभागाध्यक्ष श्रीकांकरोली-नरेश का अनुल्लंघ्य आदेश एवं अधिकांश भाषाभाषी वैष्णव जनता की कुछ सेवा करने का हार्दिक उत्साह है।

इस हिन्दी-अनुवाद—जिसका नाम "सम्प्रदायप्रदीपालोक" रक्खा गया है—का लेखक कहाँ तक सफल हुआ है, यह निर्णय पाठकों की विचारसरणि में सन्निविष्ट है। शारीरिक सतत अस्वास्थ्य एवं तज्जात विचार-स्थिरता के अभाव से अनुवाद की त्रुटियों पर यद्यपि पूर्णरूपेण ध्यान नहीं दिया जा सका है, तथापि यावच्छक्य, यावद्बुद्धिबलोदय उसे सुन्दर बनाने की चेष्टा से विरत होने का अपराध भी नहीं किया गया है।

प्रस्तुत अनुवाद 'भावानुवाद' के ढंग पर लिखा गया है, जिसके कारण वर्णन-शैली, प्रसंग एवं कथानक की धाराप्रवाहिता पर विशेष ध्यान देने की चेष्टा की गई है। अतः इस अनुवाद में मूल ग्रन्थ की पंक्तियों का अक्षरानुवाद सहृदय पाठकों को संभवतः अधिगत न हो सकेगा। जहाँ तक मुझे ध्यान है, इसके आनन्द की उपलब्धि गुजराती-अनुवादक मेरे मित्रवर पं० जटाशंकर शास्त्रीजी की कृति के द्वारा सफलता-पूर्वक हो सकेगी। इस हिन्दी-अनुवाद में मूल ग्रन्थ के अतिरिक्त कुछ ऐसे उद्धरण भी मिलेगें, जिनकी नितान्त आवश्यकता थी, और जिनके लिखे बिना प्रसङ्ग की कुछ अपूर्णता झलकती थी। जिस प्रसंग पर विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता थी, वहाँ अनुवाद में कुछ अधिक विवेचन किया गया है, जिसके औचित्य अथवा अनौचित्य की समालोचना हस्तान्तरित है। प्रस्तुत विषय में मेरा विचार, मेरी भावना और मेरा परिश्रम केवल इसी उद्देश्य से है कि 'सम्प्रदायप्रदीप' ग्रन्थ सर्वोपादेय, लोकप्रिय एवं सुचारु-

रूपेण प्रकाशित होकर सम्प्रदाय की अनुयायिनी वैष्णव-सृष्टि के श्रेयः-साधन-परिज्ञान में कुछ हस्तावलम्ब प्रदान कर सके।

अतएव जहाँ तक बन सका है, हिन्दी-अनुवाद को सर्वाङ्गीण अभिराम बनाने की पूर्ण चेष्टा की गई है। इतने पर भी यत्र-तत्र जो कुछ क्लिष्टता, अनवधानता तथा च्युति रह गई हो, उसे उदार-हृदय विद्वान् पाठक मेरा प्रथम प्रयास समझकर क्षमा करेंगे ऐसी आन्तरिक आशा है।

( ४ ) ग्रन्थ-प्रकाशन—

आज से प्रायः २—३ वर्ष पूर्व गुजराती साहित्य के एक विद्वान् लेखक ने कुछ इधर उधर के पङ्गु प्रमाण देकर इसकी विफल चेष्टा की थी कि—विद्यानगर में न तो कोई ऐसा शास्त्रार्थ हुआ था, और न उसमें वल्लभाचार्य का कनकाभिषेक ही। तात्पर्य यह कि जहाँ तक हो सका, उक्त लेख में यहाँ तक सिद्ध कर दिया गया था कि वल्लभाचार्य के समय विजयनगर में कृष्णदेव नामक कोई राजा ही नहीं हुआ! यह लेख एक शांकर पण्डित का था, जो केवल साम्प्रदायिक असहिष्णुता के कारण इसके लेखक बने थे। इसके प्रकाशन का सौभाग्य गुजराती-भाषा के 'गुजराती' पत्र ( बंबई ) ने प्राप्त किया था। इस लेख का सप्रमाण खण्डन वैष्णव-सम्प्रदाय के विद्वान् मित्रवर पं० केशवराम शास्त्रीजी ने किया, और उसका ऐसा प्रत्युत्तर दिया कि विपक्षी-वर्ग तिलमिला उठा। फिर क्या था? इसको पढ़कर बाल की खाल निकालने की चेष्टा की जाने लगी, और इसमें कई विद्वानों ने भाग लेकर कनकाभिषेक का उल्लेख करनेवाले ग्रन्थों को ही कल्पित, प्रक्षिप्त एवं अप्रामाणिक ठहराने के पाप करने में कोर-कसर नहीं की। इन ग्रंथों की श्रेणी में 'सम्प्रदायप्र-दीप' का सर्वप्रथम मुख्य नाम आया, क्योंकि—आंग्ल इतिहासकारों के अनुचरों को उनके गुरुओं की आज्ञा से

उसे ही कुछ-कुछ प्रामाणिकता के आसन पर आसीन करना पड़ता था, जो उन्हें हार्दिक वेदना उत्पन्न करना था। विरोधी-वर्ग ने 'सम्प्रदाय-प्रदीप' की खोज की और उन्हें उसकी एकाध दो नवीन हस्तलिखित ऐसी पुस्तकें ही प्राप्त हुई, जिनमें कनकाभिषेक का उल्लेख नहीं था या लिखने में छूट गया था। इसके साथ ही—इस सम्प्रदाय की प्रसिद्ध नामसेवा करनेवाले स्वनामधन्य स्व० मूलचंद तुलसीदास तेलीवाला द्वारा प्रकाशित—'वेणुनाद' में मुद्रित सम्प्रदाय-प्रदीप का चतुर्थ प्रकरण भी था।

सम्प्रदाय द्वारा प्रकाशित सम्प्रदाय-प्रदीप में कनकाभिषेक का न होना तो विपक्ष के लिये महामहोत्सव का कारण हो गया, जिसको लेकर खूब उछल-कूद मचाई जाने लगी। पर इससे क्या परम्परा-प्रख्यात ऐतिहासिक 'कनकाभिषेक' का अपलाप किया जा सकता था? धूलि-प्रक्षेप अथवा पट-वितान से देदीप्यमान दिवाकर के दिव्य प्रकाश का लोप किया जा सकता? अन्त में सत्य परिस्थिति प्रकट हुई और वह प्रकटी 'सम्प्रदाय-प्रदीप' के रूप में। इस 'प्रदीप' ने अज्ञानान्धकार में पथभ्रष्ट कितने ही व्यक्तियों को अपने उज्ज्वल प्रकाश से कनकाभिषेक के दर्शन कराये, जिससे अज्ञान-निशाचरों का सारा का सारा हो हल्ला शान्त हो गया।

इस पुण्य प्रकाश के फैलाने का श्रेय कांकरोली-नरेश गो० श्रीव्रज-भूषणलालजी महाराज को प्राप्त है। आपने अपने विद्या-विभाग को इसकार्य के लिये प्रयत्नशील कर उसे सर्वविध सहायता देने का प्रबन्ध किया। फलस्वरूप इस दिशा में कार्य प्रारंभ हुआ, और सम्प्रदाय-प्रदीप की प्राचीन से प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तक प्राप्त करने का अन्वेषण किया जाने लगा। सौभाग्य से कांकरोली-विद्या-विभाग के 'श्रीद्वारकेश-सरस्वती भण्डार' में ही 'सम्प्रदाय-प्रदीप' की चार पुस्तकें हस्तगत हुईं—जिनमें तीन तो प्राचीनतर और एक

इसी शतक की लिखी हुई थीं। इसके अतिरिक्त जहाँ तहाँ से हस्त-लिखित पुस्तकें मँगवाई जाने लगीं। हर्ष का विषय है कि हमें पंद्रह पुस्तकें प्राप्त हुईं—और उनमें भी कम-से-कम दस पुस्तकें तो ऐसी मिलीं, जिनसे अधिक प्राचीन पुस्तक मिलने की अब आशा नहीं है।

'सम्प्रदाय-प्रदीप' का लेखन और प्रकाशन जिन हस्त-लिखित पुस्तकों के आधार पर हुआ है, वे निम्न-लिखित हैं। केवल एक बार के पत्र-व्यवहार से ही अपनी-अपनी पुस्तकें भेजने का सभी महानुभावों ने अनुग्रह दिखाकर जो सौजन्य प्रकट किया है, उसके लिये हम उनकी सेवा में केवल कृतज्ञता-प्रकाशन के और क्या कर सकते हैं? एतदर्थ विद्या-विभाग उन महानुभावों का चिर-कृतज्ञ है। अस्तु। उपलब्ध आदर्श पुस्तकों की सूची और विवरण इस प्रकार है—

| संख्या | संज्ञा | विवरण |
|---|---|---|
| १. | क. | श्रीद्वारकेश-पुस्तकालय ( स० भं० ), तृ० पीठ विद्या-विभाग, कांकरोली। पत्र ४९। सम्पूर्ण। "लिखितं नाथुराम ज्ञाति उदीच्य, वृद्धनगर वास्तव्य सं० १७७१ वैशाखवदि १२ भौम।" |
| २. | ख. | श्री. द्वा. पु. तृ. पी. वि. विभाग, कांकरोली। पत्र २९। सम्पूर्ण। प्राचीन। गो. श्रीगिरिधरलालजी महाराज कांकरोलीवालों ने मथुरा में मूल्य से ली। लेखन-काल नहीं है। |
| ३. | ग. | श्री. द्वा. पु. तृ. पी. वि. विभाग, कांकरोली। पत्र २८। सम्पूर्ण। प्राचीन। "गो. श्रीव्रजनाथात्मज श्रीविट्ठलनाथानाम्" ( जन्म सं० १८११ ) लेखन-काल नहीं है। |
| ४. | घ. | श्री. द्वा. पु. तृ. पी. वि. विभाग, कांकरोली। पत्र ४३। सम्पूर्ण। नवीन। "शा. रामदास मथुरादासस्य |

पठनार्थे शा. जयकृष्णदास वेंकटीदासेन व्यलिखि सम्पूर्णमिति सं० १९२१ श्रा. कृ. ८ इन्दुवासरे चिनापट्टण नामक पुरे।"

५. ङ भट्ट पं० जटाशंकर शास्त्री (झाफा) ने मद्रासस्थ सेठ बालगोविन्ददास से प्राप्त की। पत्र २५। प्रथम प्रकरण से अर्ध-चतुर्थ प्रकरण-पर्यन्त (कनकाभिषेक वर्णन) अतिप्राचीन जीर्णप्राय। लेखन-काल पुस्तक की अपूर्णता से उपलब्ध नहीं।

६. च. गोस्वामिकुलभूषण श्रीगोकुलनाथजी महाराज बंबई। पत्र ३१ सम्पूर्ण। नवीन। मद्रास ओ० लाइब्रेरी (केनीमेरी) की प्रति से लिखित। लेखनकाल नहीं है।

७. छ. पं० ज्येष्ठाराम शास्त्री, उमरेठ। पत्र ३१२। सम्पूर्ण। नवीन। लेखन-काल नहीं है। मद्रास-लाइब्रेरी से लिखित।

८. ज. पं० ज्येष्ठाराम शास्त्री, उमरेठ। पत्र २६। सम्पूर्ण। नवीन। पाठ भेद सहित। लेखन-काल नहीं है।

९. झ. श्री द्वा. पु. तृ. पी. वि. विभाग, कांकरोली। पत्र १२। केवल चतुर्थ प्रकरण। "सं० १७७१ ज्ये. शु. १५ लिखित।" अहमदाबादस्थ पं० सदानन्द शुक्ल द्वारा एक प्राचीन पुस्तक-संग्रह से मूल्य द्वारा प्राप्त।

१०. ञ. गो. श्रीगोपाललालजी महाराज, मथुरा के पुस्तकालय से तत्पुत्र गो. श्रीविट्ठलनाथजी बाबा साहब (कांकरोली) की आज्ञा से प्राप्त। पत्र २२। सम्पूर्ण। प्राचीनतर। लेखन-काल नहीं है।

११. ट. गो. श्री. गोपाललालजी महाराज, मथुरा। उपर्युक्त

प्रकार से प्राप्त। पत्र ६०। सम्पूर्ण। प्राचीन तर। लेखन काल नहीं है।

१२. ठ. राज्य-पुस्तकालय, बड़ौदा। सं० १७२६ की लिखित। सम्पूर्ण।

१३. ड. राज्य-पुस्तकालय, बड़ौदा। लिपि तेलगू। सम्पूर्ण। प्राचीनतर। लेखन-काल नहीं है।

१४. ढ. राज्य-पुस्तकालय, बड़ौदा। सं० १७६१ की लिखित। सम्पूर्ण।

१५. ण. पं० श्रीमग्नलाल शास्त्री एम्० ए० भरूच। सम्पूर्ण। प्राचीन। लेखन-काल नहीं है।

संख्या १२ से १५ तक अन्तिम चार पुस्तकें विद्या-विभागकार्यालय, कांकरोली में नहीं आ सकीं, अतः तत्तत्स्थान पर जाकर पं० जटाशङ्करजी शास्त्री ने उनके पाठ भेदों का पर्यवलोकन किया। उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त कोई अन्य पाठ भेद की विशेषता ज्ञात होने से नोटों में संकेताक्षरों के द्वारा इनका उल्लेख अनावश्यक समझा गया है। अस्तु।

इधर सम्प्रदाय-प्रदीप के प्रकाशन के लिये, उसकी पाठ-भेद-सहित मूल कापी तैयार की जाने लगी, उधर अपने अदम्य उत्साह के फलस्वरूप मित्रवर्य पं० जटाङ्करजी शास्त्री ने दक्षिण-प्रदेश में जाकर कनकाभिषेक का अन्वेषण करना प्रारंभ किया। उन्हें कांकरोली-नरेश के द्वारा सर्वविध सहायता प्रदान की गई, और कुछ महानुभावों ने भी इसमें हाथ बँटाया। यद्यपि समयाभाव और कई कठिनाइयों के कारण इस विषय की पूर्णतया खोज नहीं हो सकी है, तथापि जो कुछ सफलता प्राप्त हुई, वह 'कनकाभिषेक' नामक पुस्तक के रूप में विद्या-विभाग द्वारा तत्काल ही प्रकाशित कर दी गई है। हाँ, इस अन्वेषण-यात्रा में 'सम्प्रदाय-प्रदीप' की चतुर्थ प्रकरण पर्यन्त

एक प्रति प्राप्त हुई, जो प्राचीनता के लिये अपना दर्शनीय स्थान रखती है। अस्तु।

उपलब्ध पुस्तकों में से मूलपाठ रखने के लिये बड़ा परिश्रम उठाना पड़ा है, और इसमें विद्या-विभाग के अध्यक्ष गो० श्रीव्रज-भूषणलालजी महाराज, उपाध्यक्ष गो० श्रीविट्ठलनाथजी महाराज तथा सञ्चालकद्वय ने विशेष समय प्रदान किया है। पाठ भेद लिखाने के लिये विद्या-विभाग के जिन सदस्यों ने अथक परिश्रम किया है, वे धन्यवाद के पात्र हैं, क्योंकि यदि पाठभेद पुस्तक के साथ प्रकाशित न किये जाते तो पुस्तक की प्रामाणिकता पर सन्देह होता, और विरोधिवर्ग को बहुत कुछ कहने का स्वर्ण-संयोग मिलता।

आदर्श पुस्तक एवं प्रेसकापी के तैयार हो जाने पर महाराज श्री ने सर्वसाधारण के उपयोग की दृष्टि से इसके अनुवाद करने की आज्ञा प्रदान की। परिणाम-स्वरूप हिन्दी अनुवाद का भार मुझे एवं गुर्जरानुवाद का कार्य पं० जटाशङ्करशास्त्री को प्रदान किया गया। आदेशानुसार वह यथाबुद्धि समाप्त कर इसके साथ सम्मिलित किया गया है। आशा है पाठकवर्ग उसका अवलोकन अपनी सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए हमारी सेवा को स्वीकार करेगा।

इसप्रकार कार्य एवं प्रदेश-भ्रमण के बाहुल्य से प्रायः डेढ़ वर्ष के अनन्तर इसके मुद्रित कराने की व्यवस्था की गई। यों तो विद्या-विभाग ने अपने गत छः वर्षों में 'श्रीद्वारकेश-ग्रन्थमाला' के द्वारा आठ ग्रन्थों का प्रकाशन किया है, पर वे उतना महत्त्व नहीं रखते, जितना 'सम्प्रदाय-प्रदीप' का मुद्रण।

'सम्प्रदाय-प्रदीप' विद्या-विभाग के सप्तम वर्ष का सुन्दर उपहार है, जिसका सश्रद्ध समर्पण इस सम्प्रदाय के संस्थापक श्रीमदाचार्य-चरणों की पवित्र सेवा में इसके अध्यक्षश्री के कर-कमलों द्वारा हो रहा है।

'सम्प्रदाय-प्रदीप' के प्रकाशन का जब आयोजन होने लगा, तब

आर्थिक व्यवस्था ने उपस्थित होकर विद्याविभाग के सम्मुख एक प्रकार की चिन्ता-निदाघोष्णता की उत्पत्ति की। उस समय पूर्व पुण्यों के प्रभाव से एक अनुपम अकाल-जलद का उदय हुआ, जिसने अपनी निर्मल दान-वारिधारा से साम्प्रदायिक साहित्य-प्रकाशन-क्षेत्र को आप्लावित कर उसे अंकुरित भी कर दिया। सारांश यह कि कांकरोली-नरेश के पुण्यचरित्र, उदारहृदय श्रीमन्मातृ-चरणों ने विद्याविभाग को एतदर्थ एक ऐसी स्थायी द्रव्य-राशि प्रदान की, जिससे सर्वदा के लिये ग्रन्थ-प्रकाशन का द्वार उद्घाटित हो गया है। इस अनुकम्पा के लिये उनकी चरण-परिचर्या में जितनी भी श्रद्धा समर्पित की जाय, न्यून ही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में जिन सज्जनों ने हमें यत्किञ्चित् भी कायिक वाचिक एवं मानसिक साहाय्य प्रदान किया है, उनके हम आभारी हैं। चित्र-प्रदान करने में अहमदाबाद के सां० पुस्तक-प्रकाशक श्रीलल्लूभाई छगनलाल देसाई ने उदारता प्रदर्शित की है, और उनके मुद्रणादि कार्य में पं० वसन्तरामशास्त्री शुद्धाद्वैत-सम्पादक ने। एतदर्थ उनको धन्यवाद समर्पण करना हमारा कर्तव्य है।

प्रस्तुत पुस्तक में 'शास्त्रार्थ' तथा 'कनकाभिषेक' सम्बन्धी जो चित्र संयुक्त किए गए हैं, वे श्रीनाथद्वारा के प्राचीन चित्रसंग्रह में प्राप्त लिखित चित्रों के आधार पर तयार कराए गये हैं, ऐसा हमें श्रीलल्लू भाई के द्वारा ज्ञात हुआ है।

ग्रन्थ का मुद्रण, उसकी सुन्दरता तथा छपाई-सफ़ाई का श्रेय सुधा के यशस्वी सम्पादक, देव-पुरस्कार के विजेता, गंगा-ग्रन्थागार के संचालक, स्वनामधन्य मित्रवर श्रीदुलारेलालजी भार्गव को है, जिनकी विशेष देख-रेख में हमें बहुत कुछ निश्चिन्तता अधिगत हुई है और प्राथमिक प्रूफ़-संशोधन में भी उनके सौजन्य के कारण कष्ट उठाना नहीं पड़ा है।

अन्त में हम उन साम्प्रदायिक-साहित्य के प्रेमियों, जिज्ञासुओं का उपकार-स्मरण भी विस्मृत नहीं कर सकते, जिन्होंने ग्रन्थ-प्रकाशन के पूर्व ही अर्ध-मूल्य देकर ग्राहक-श्रेणी में अपना नामोल्लेख करा दिया है। अस्तु।

जैसी आशा है—इस ग्रन्थ का प्रकाशन यावच्छक्य सुचारु रूप से किया गया है। यद्यपि सावधानता का विशेष उपयोग किया गया है तथापि दृष्टि-दोष-वश अथवा मुद्रण के समय अक्षरादिच्युति से जो त्रुटियाँ इस ग्रन्थ के सम्पादन में रह गई हों, उनके लिये हम साञ्जलि क्षमाभ्यर्थना करते हुए शुभाभिलाष-पूर्वक विश्राम लेते हैं।

कल्याणवरुणालय, वैश्वानरावतार, अखिलजगदुद्धारक, श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण हम पर अपनी अतुल कृपा-दृष्टि की वृष्टि करें, जिससे सम्प्रदाय की नाम साहित्य-सेवा में अपने को सक्षम बनाते हुए हम पुनरपि कुछ नवीन उपहार लेकर उपस्थित हो सकें। शमिति—

विनिवेदक—

सम्वत्सरोत्सव १९९२ अहमदाबाद

पो० कण्ठमणि शास्त्री विशारद
संचालक—
श्रीविद्या-विभाग, कांकरोली



"सम्प्रदाय प्रदीपालोक" ( हिंदी-भावानुवाद )

का

# विषयानुक्रम.



प्रथम प्रकरण—१ से २१



द्वितीय प्रकरण—२२ से ४४

## चतुर्थ प्रकरण—७६ से ११४

पो० कण्ठमणि-शास्त्री विशारद कृत

"सम्प्रदायप्रदीपालोक" का

विषयानुक्रम समाप्त

संवत् १९९१
अन्नकूटोत्सव

कांकरोली

"सम्प्रदाय-प्रदीपस्य" ( मूलग्रन्थस्य )

# विषयानुक्रमणिका

—:०:—

( प्रथमं प्रकरणम् )



( द्वितीयं प्रकरणम् )

( पञ्चमं प्रकरणम् )

इति श्रीसम्प्रदाय-प्रदीप- विषयानुक्रमणिका समाप्ता

———:०:———



जगद्‌गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्यजी.

# श्रीद्वारकेशो जयति



श्रीमद्भगवद्वदनानलावतार। भक्तिमार्गाब्जमार्तण्ड।
आचार्यचक्रचूडामणि। श्रीमद्वल्लभाचार्य। चरणों

की

परम पवित्र परिचर्या

में—

प्रभो ! आप वाग्पति हैं, आपकी स्तुति नहीं की जा सकती। परन्तु आपकी अच्छगुण गाथा के अतिरिक्त अन्तरात्मा को उज्ज्वल बनाने का अन्य साधन भी हम निःसाधनों के सन्निधान में नहीं है,

देशिकेन्द्र !! आपकी भव्य भक्ति-भागीरथी ने भूतल को विभूषित कर अपने भविक अभिषेक से अनेक भवदावानल-दग्ध जीवों को जो अनुपम सुख-शांति प्रदान की है, उसके सुधा-स्वाद से हम भी वञ्चित नहीं रहना चाहते,

करुणानिधान !!! आपके अलोक-सामान्य, त्यागमय, आदर्श चरित्र ने अनेक भ्रांत जीवों को अवितथ पथ का

प्रसादमय परिदर्शन कराया है, सम्प्रति हम भी तो उसकी मञ्जुल माधुरी के अवलोकनार्थ आन्तरिक अभिलाषुक हैं,

भक्तेच्छा-पूरक !!!! आपकी कृपा-दृष्टि-कणिका-सम्प्राप्त, पुष्टि-सम्प्रदाय की नन्दन-निकुञ्ज में ही नवीन नीरद-श्याम भगवान् नन्दनन्दन को नवल-रसमय-सौन्दर्य-सुधा का पान समधिगत हो सकता है,

## एतदर्थ—

ग्रन्थकार तथा अनुवादकों की आन्तर अभिलाषा के अनुरूप, एवं प्रकाशक-विद्याविभाग कांकरोली की शुद्धाद्वैत-सेवा की शुभभावना के साफल्यार्थ, प्रस्तुत 'सम्प्रदाय-प्रदीप' श्रीचरणों की सुखद-सेवा में सभक्तिश्रद्ध सादर समर्पित है। दयामय! इसे अङ्गीकृत कर हमें आत्मबल प्रदान करने का अनुग्रह कीजिये।

श्रीवल्लभाब्द ४५७<br>
नडियाद<br>
वै० कृ० ११ सं० १९९२

भवदीय वंश-वशम्वद—<br>
गो० श्रीव्रजभूषण शर्मा<br>
कांकरोली

---

श्रीद्वारकेशोजयति

# 'सम्प्रदाय-प्रदीपालोक'

## ( भावानुवाद )

## प्रथम प्रकरण

गोवर्धन-गिरि धर्‌यौ, कर्‌यौ व्रज रच्छन तच्छन।
श्रुतिगन-हित रचि रास अनुग्रह कर्‌यौ विलच्छन॥
सकल कलानिधि कृष्ण भूमि प्रकटे सत्पावन।
विष्णुस्वामि धरि रूप भक्ति मारग प्रकटावन॥
श्रीवल्लभ शुभ नाम धरि पुष्टि हेतु प्रकटे बहुरि।
जगदुद्धारण-हेतु सो वन्दनीय त्रय-रूप हरि॥ १॥

वल्लभ-सुत सुख-धाम, विट्ठलेश शासन समय।
शिष्य गदाधर नाम, सम्प्रदाय क्रम कछु कहत॥ २॥

कुटिलालक भाल विसाल लसैं
सिर सोहत मोर-शिखा-अवतंसी।
कर कोमल पंकज में जिनके
मधुरी मृदु बाज रही वर वंसी॥
श्रुति-गोप-वधू-गन-वेष्टित श्री—
जन लोचन के सुख दैन प्रशंसी।

हिय की अभिलास सबै फलिहै
तुम जो करुना करिहो जदुवंसी ॥ ३ ॥

सच्चिदानन्द, भक्तवत्सल भगवान्, पूर्णपुरुषोत्तम तथा उनके अवतारों के द्वारा यथासमय परिरक्षित, परिपुष्ट, सकल जीवोद्धारक पुष्टि ( अनुग्रह-भक्ति ) मार्ग-संप्रदाय के क्रम-वर्णन करने के पूर्व काल-परिस्थिति के परिज्ञानार्थ पल, घटी आदि समय-विभागों का वर्णन करना अत्यावश्यक है।

शास्त्रकारों ने साठ गुरु अक्षरों के उच्चारण-काल को एक पल, साठ पल की एक घड़ी, और साठ घड़ी का एक अहोरात्र माना है। ऐसे तीस अहोरात्रों से एक मास एवं बारह मासों से एक वर्ष पूर्ण होता है।

इस प्रकार मनुष्यों के १७२८००० वर्षों का एक कृतयुग, १२९६००० वर्षों का एक त्रेतायुग, ८६४००० वर्षों का एक द्वापर-युग तथा ४३२००० वर्षों का एक कलियुग माना गया है। इन चारो युगों को चतुर्युग कहते हैं। ७१ चतुर्युगों ( चौकड़ी ) का एक मन्वन्तर माना गया है। चौदह मन्वन्तरों से ब्रह्मा का एक दिन तथा च उतने ही मन्वन्तरों से उनकी रात्रि पूर्ण होती है। ( अर्थात् ब्रह्मा के एक अहोरात्र में २८ मन्वन्तर व्यतीत हो जाते हैं। ) इस प्रकार तीस अहोरात्रों से ब्रह्मा का एक मास, बारह मासों से एक वर्ष, और सौ वर्षों से उनकी आयु पूर्ण होती है। ज्योतिःशास्त्र में भी "शतायुः शतानन्द एवं प्रदिष्टः" इस वाक्य से यही प्रतिपादित किया गया है। फलतः गणित करने पर

मनुष्य के दो परार्द्ध वर्षों के पूर्ण होने पर ब्रह्मा की आयु पूर्ण होती है।

ज्योतिषशास्त्र में—एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, लक्ष, प्रयुत, कोटि, अर्बुद, अब्ज, खर्व, निखर्व, महासरोज शंकु, जलधि, अन्त्य, मध्य तथा परार्द्ध, इस प्रकार संख्या-क्रम का उल्लेख है। इस गणना में संख्या क्रमशः उत्तरोत्तर दसगुनी है।*

सृष्टि-वर्णन करने के अनन्तर भागवत (१२ स्कं०, ४ अ०) में नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक तथा आत्यन्तिक इन चतुर्विध प्रलयों का लक्षण-निर्देश किया गया है। जिससे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मा के प्रत्येक दिन में सात पातालों से लेकर महर्लोक पर्यन्त सुरासुर, मनुष्य, पशु, पक्षि, कीटादि की सृष्टि होती है, और उनकी रात्रि में सबका प्रलय। इस प्रकार नित्य एवं नैमित्तिक प्रलय, जो ब्रह्मा की प्रतिरात्रि में होते हैं, उनके एक वर्ष में तीन सौ साठ वार हो जाते हैं। इस क्रम से विश्व की अनेक बार सृष्टि-प्रलयावस्था होते-होते सम्प्रति ब्रह्मा की अर्धआयु (५० वर्ष) व्यतीत हो गई है।

धार्मिक कर्तव्यों के प्रारम्भ में उच्चारित शास्त्रोक्त संकल्प से यह

---

* हिन्दी-गणित में संख्याओं के नाम ये हैं—एक, दस, सौ, हज़ार, दस हज़ार, लाख, दस लाख, करोड़, दस करोड़, अरब, दस अरब, खरब, दस खरब, नील, दस नील, पद्म, दस पद्म, शंख, दस शंख। (परार्द्ध = शंख)

भी विदित होता है कि सम्प्रति ब्रह्मा के पचास वर्ष के उपरान्त ५१वें वर्ष का छठवाँ मास चल रहा है। जिसके अन्तिम (३०वें) दिन का नाम 'श्वेत वाराह कल्प' है। इस श्वेत वाराह कल्प में २८वाँ कलियुग वर्तमान है। प्रजापति के जन्म-दिन से लेकर अद्यावधि ब्राह्म, पाद्म इत्यादि अनेक कल्पकल्पान्तर व्यतीत हो चुके हैं, जिनकी गणना करना दुःशक्य है।

उपर्युक्त विगत कल्पों में कितने ही कल्प सात्विक, राजस और तामस गुण-विशिष्ट थे, इसी प्रकार अग्रिम कल्प भी पृथक्-पृथक् गुण-सम्वलित होंगे। तत्तद्गुणयुक्त कल्पों में तत्तद्गुणाधिष्ठातृ देवता, ब्रह्मा, विष्णु और शिव के द्वारा सृष्टि होती है। किसी-किसी कल्प में देवी तथा सूर्य के द्वारा सृष्टि होने का भी शास्त्रों में उल्लेख है। पुराणों में सृष्टिकर्ता के विषय में जो पार्थक्य और मत-विभिन्नता उपलब्ध होती है, उसका एकमात्र कारण गुण-वैचित्र्य ही है। तत्तद्गुणाधिष्ठातृ देव द्वारा, तत्तत्कल्प में तत्तदनुरूप सृष्टि का होना असंगत एवं विरुद्ध नहीं है। इस रहस्य को समझे विना, अनेक सृष्टिकर्ताओं की नामावली को देखकर, पुराणों को कपोलकल्पित बता देना केवल अज्ञान-विजृम्भण है। वास्तव में एक ही निर्गुण परब्रह्म सृष्टि-वैचित्र्य के लिये पृथक्-पृथक् गुणों को ग्रहण करने के कारण देवतान्तरों के रूप में अवभासित होता है।

सम्प्रति वर्तमान श्वेत वाराह कल्प—ब्रह्मा के ५१वें वर्ष के छठे महीने के अन्तिम दिन—में स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम,

तामस, रैवत तथा चाक्षुष यह छ मन्वन्तर व्यतीत होकर सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर भुगत रहा है। इसके अनन्तर सावर्णि, दक्ष सावर्णि, ब्रह्म सावर्णि, धर्म सावर्णि, रुद्र सावर्णि, वेद सावर्णि तथा इन्द्र सावर्णि नामक सात मन्वन्तर क्रमशः होनेवाले हैं।

कृतयुग में धर्म के चार चरण—तप, सत्य, दया, दान—वर्तमान रहते हैं। त्रेता में तप के अन्तर्हित हो जाने से त्रिपात्, द्वापर में तप-सत्य के अन्तर्हित हो जाने से द्विपात् एवं कलि में तप, सत्य, दया के अन्तर्हित हो जाने से धर्म एक पात् ( दान-धर्मवाला ) हो जाता है। समय-प्रभाव से अन्तर्हित धर्म के उक्त साधन तत्तत् युगों में सर्वथा नष्ट न होकर न्यूनप्रचार, कष्टसाध्य एवं फलदान में असमर्थ हो जाते हैं। इसीलिये अपवाद-स्वरूप इनका अनुष्ठान क्वचित्-क्वचित् परिलक्षित होता रहता है।

वेद-शास्त्रादि-प्रतिपादित एक ही धर्म वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था तथा नित्य नैमित्तिक काम्य आदि कर्तव्य-व्यवस्था के कारण अनेक रूप हो जाता है। गुण, देश, काल आदि के द्वारा तो इस धर्म में विशेष विभिन्नता विज्ञात होने लग जाती है, जिससे धर्म का वास्तविक मूल-स्वरूप साधारण कोटि के मनुष्यों के मस्तिष्क में नहीं आता। इन परिस्थितिओं को ध्यान-पथ में रख-कर धर्म-रहस्य समझने पर उसका स्वच्छ और सार्वजनीन रूप हृदयंगम हो जाता है। अन्यथा वह परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने लगता है। "यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद, नेतरः" इस वाक्य के तर्क शब्द से यही स्वारस्य प्रकट होता है।

जिस प्रकार गीता के अनुसार प्रतियुग अधर्म-नाश और धर्म-संस्थापना के अर्थ पृथक्-पृथक् रूप से भगवदवतार होते हैं, उसी प्रकार प्रतिमन्वन्तर त्रिलोकी शासक पृथक्-पृथक्, इन्द्र, वेद-मूलक शास्त्र-मत-प्रतिपादक पृथक्-पृथक्, सप्तर्षि, इन्द्रानुचर देवगण, दण्ड-नीति द्वारा धर्मपालक पृथक्-पृथक्, मनुपुत्र राजा, तथा च तत्तत्कल्पानुसार सृष्टि का वर्णन करने के लिये पुराण-प्रवर्तक व्यास के भी पृथक्-पृथक्, अवतार होते हैं। इस प्रकार प्रति मन्वन्तर के प्रतिद्वापर में वेदव्यास के ७१ अवतार होते हैं। व्यासप्रोक्त पुराणों में जो परस्पर मतभेद उपलब्ध होता है, वह तत्तत्कल्प के व्यास द्वारा वर्णित तत्तत्कालीन वृत्तान्त के कारण है, ऐसा समझ लेने पर पुराणों में फिर किसी प्रकार का विरोध दृष्टिगोचर नहीं होता।

वर्तमान श्वेत वाराह कल्पीय वैवस्वत मन्वन्तर के २८वें द्वापर युग में—जो पाँच हज़ार वर्ष पूर्व व्यतीत हुआ है—सत्यवती के द्वारा पराशरात्मज वेदव्यास का प्राकट्य हुआ। उन्होंने वेदों का शाखा-विभाग करते हुए वेदान्त ( उत्तर मीमांसा ), शास्त्र, महाभारत तथा श्रीभागवत की रचना की है। इन शास्त्रों के द्वारा जीवों को स्वाधिकारानुसार श्रेयःप्राप्ति का मार्ग ज्ञात होता है। द्वापर से लेकर अद्यावधि उत्पन्न होनेवाले समस्त धर्माग्रही महापुरुष, वेदव्यास के मत का आश्रय लेकर ही लोक में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा भक्ति, इन पाँचो पुरुषार्थों में से यथायोग्य किसी एक का प्रचार करते चले आए हैं।

सतयुग से द्वापर-पर्यन्त चतुर्विध पुरुषार्थ की प्रवृत्ति थी, अतः तत्कालीन मनुष्य स्वाधिकारानुसार उसकी प्राप्ति के लिये आचरणशील होते थे। सम्प्रति कलिकाल में हरिभक्ति-स्वरूप पुरुषार्थ द्वारा ही सहज में जीवों को कल्याण-प्राप्ति हो जाती है। इस युग में धर्म के दान-स्वरूप एक ही चरण के अवशिष्ट रह जाने से तप, सत्य तथा दया द्वारा तादृश फल-सिद्धि नहीं हो पाती, जिस प्रकार भगवान् के लिये सर्वस्व निवेदन ( दान ) भक्ति द्वारा हो सकती है। सत्य तथा त्रेतायुग में, अन्य ऋषियों की प्रधानता के कारण, उनकी प्रवर्तित धर्म-कर्मादि की व्यवस्था और उनके उपास्य देव—मत्स्य, नृसिंह, श्रीराम आदि की भक्ति का प्रचार और प्राबल्य था। कलिकाल में तो श्रीभागवत-रचयिता वेदव्यास की ही प्रधानता से उनके अभीष्ट उपास्य, देवाधिदेव श्रीकृष्ण की भक्ति ही परम कल्याण-साधक, सर्वसुलभ साधन सिद्ध होती है।

यद्यपि पुराणों में कहीं-कहीं "कलौ देवो महेश्वरः", "कलौ-चण्डी विनायकौ", "कलौ रामेति कीर्तनम्" इत्यादि वाक्यों से कलियुग में अन्य देवों की प्रधानता और भक्ति का उल्लेख पाया जाता है, तथापि इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह कलियुग कौन-सा है। क्योंकि प्रत्येक मन्वन्तर में अनेक कलियुग आते हैं। अतः श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य देवों की प्रधानता एवं भक्ति की महत्तावाले कलियुग या तो व्यतीत हो चुके हैं, या क्रमशः आगे आनेवाले हैं। वर्तमान कलियुग के लिये तो उपर्युक्त

कथन से यही निःसन्दिग्ध सिद्ध होता है कि पराशरात्मज, सत्यवती-नन्दन भगवान् वेदव्यास ने जीवों के उद्धारार्थ कृपया श्रीभागवत की रचना कर श्रीकृष्ण-भक्ति का ही उपदेश दिया है। महाराज परीक्षित के मुक्ति-प्राप्ति-रूप प्रत्यक्ष निदर्शन से कलिकाल के जीवों के लिये इसके अतिरिक्त अन्य गति नहीं है, यह निर्धारित हो जाता है।

कलौ दश सहस्रेण विष्णुस्त्यक्ष्यति मेदिनीम्।
तदर्धं जाह्नवीतोयं तदर्धं सर्वदेवताः ॥

(ब्रह्माण्ड पु०)

इस कथन से भी उक्त सिद्धान्त की पुष्टि होती है। अर्थात् "कलि में दस हज़ार वर्ष पर्यन्त पृथ्वी पर भगवान् विष्णु, पाँच हज़ार वर्ष पर्यंत भगवती जाह्नवी का जल तथा ढाई हज़ार वर्ष पर्यन्त देवताओं का प्राकट्य रहेगा। इस अवधि के अनन्तर शनैः-शनैः उनका तिरोभाव होता जायगा।" इसलिये कलिकाल में विष्णु की प्रधानता और उनकी विशेष उपस्थिति से भक्ति ही कर्तव्य-रूप सिद्ध होती है।

कलिकाल के पूर्व अन्य युगों में जो मनुष्य वेदोक्त वर्णाश्रम-धर्म तथा भागवतधर्म का आचरण करते रहे हैं, उन्हें तत्तत्काम-नानुसार त्रिविध फल की प्राप्ति हुई है। इन जीवों में जो स्वधर्मा-चरण से स्वर्गादि लोक-प्राप्ति-फल के अभिलाषुक थे, वे कलि की समाप्ति पर्यंत तत्तल्लोकों में निवास करते हुए तत्तत्सुखों का उपभोग करते रहेंगे। जो वैराग्य ज्ञानवान् होकर मोक्ष के लिये

स्वधर्मानुष्ठान करते थे, वे सांख्य, वेदान्त, योग, शैव, वैष्णवादि शास्त्रोक्त स्वाधिकारानुसार मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं। जो निष्काम भागवत-धर्म का आचरण करनेवाले हुए हैं, वे कलि-युग के गुण को जानकर उसके दस सहस्र वर्षों में ही भारत वर्ष में भक्त्यर्थ वैष्णव कुल में जन्म लेते रहते हैं। भाग० ११ स्कं०, ५ अ० तथा १२ स्कं०, ३ अध्याय के श्लोकों से इसी कथन की पुष्टि होती है।

उक्त श्लोकों में प्रतिपादित है कि "जो परमपुरुषार्थ अन्य युगों में यज्ञ-याग, जप-तप, समाधि द्वारा कष्ट-साध्य था, वही कलि में भक्ति के द्वारा सुख-साध्य हो गया है। कलि के दोष-निधि होने पर भी उसकी इसी भक्ति-विषयक विशेषता के कारण देवता भी भारत में वैष्णव-कुल में उत्पन्न होने की अभि-लाषा रखते हैं। इस पुण्य भूमि का कुछ ऐसा प्रभाव है कि जो मनुष्य इसकी पवित्र-सलिला नदियों का सतत जल-पान करते हैं, उनके हृदय में प्रायः भक्ति का बीजाङ्कुरोद्भव हो ही जाता है।"

ब्रह्माण्डपुराण के पूर्वोक्त वचनानुसार कलियुग में वेद-प्रोक्त यज्ञ-भाग-भोक्ता, ब्रह्मा, रुद्र, गणेश, वसु, आदित्य आदि देवों की उपस्थिति केवल ढाई हज़ार वर्ष पर्यन्त ही है। अतः उनकी उपासना द्वारा फल-प्राप्ति भी उतने ही समय तक संभव है। इसके अनन्तर वह महत् कष्टसाध्य हो जाती है। इसी प्रकार जब तक भागीरथी का प्रवाह और उत्कल देश में श्रीजगन्नाथ-

रूप से भगवान् विष्णु का अवस्थान है, तभी तक कलियुग में वैष्णवों का प्रादुर्भाव और भक्ति द्वारा कल्याण-साधना हो सकती है। जिस प्रकार गृहस्वामी के विना शून्यगृह आगन्तुक व्यक्ति के लिये अकिञ्चित्कार होता है, उसी प्रकार देवोपस्थिति के विना जप, तप, भक्ति आदि विहित साधन भी निरर्थक हैं। अतः वर्तमान काल में कृष्ण-भक्ति के अतिरिक्त अन्य देवोपासना द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेना दुःशक्य है। शास्त्रों के अनेक वचनों के अनुसार सम्प्रति कृष्णातिरिक्त अन्य सब देवों का माहात्म्य तिरोभूत हो चुका है, जिससे माहात्म्य-ज्ञान के विना उनकी भक्ति होना भी दुर्लभ हो गया है। श्रीवल्लभाचार्य ने स्वरचित 'कृष्णाश्रय' स्तोत्र में यही वर्णित किया है। अतः "कलौ भक्ति", "कलौ भक्ति" यह उक्ति अक्षरशः सत्य सिद्ध होती है।

"कलि काल में विशेषतया वेदमार्ग-बहिष्कृत-पाखण्ड-पोषक, म्लेच्छ, कौलिक आदि अनेक मत-प्रवर्तकों की उत्पत्ति होती है, जिनके आपाततः रमणीय किन्तु अन्तःसारविहीन वाग्जाल में फँसकर जन-समुदाय अनन्त काल तक निरयगामी ही बना रहता है।" विष्णुपुराण के धर्मोत्तर खण्ड के कथनानुसार कलियुग में ऐसे अनेक मोहक पन्थों से सावधान रहने की आवश्यकता है।

स्कंदपुराण के कथनानुसार "कलि के सर्वोत्कृष्ट आद्य दश सहस्र वर्षों में त्रिविध वैष्णवों की उत्पत्ति होती है। प्रथम वे हैं, जो मनसा, वचसा और कर्मणा कृष्णभक्ति में तल्लीन रहते हैं।

द्वितीय वे हैं, जो सम्प्रदाय द्वारा ( परंपरा-प्राप्त ) वैष्णव धर्म का परिपालन करते चले आते हैं। तृतीय वे हैं, जो वैष्णव कुल में उत्पन्न न होकर भी सद्गुरु के वाक्य पर श्रद्धालु होकर स्वधर्म ( वैष्णव धर्म ) में सम्मिलित हो जाते हैं। भगवदीयता के कारण इन त्रिविध भक्तों पर कलि का प्रभाव नहीं पड़ता।" जो जीव श्रीहरि का आश्रय न लेकर कलि के कुचक्र मत-मतान्तरों में प्रविष्ट हो जाता है, वह अनन्त काल के लिये नरक का दुःख-फल प्राप्त करता रहता है। सांसारिक जन्म-मरण के प्रवाह अथवा नरक-दुःख से भगवत्कृपा के विना उसका उद्धार होना असंभव हो जाता है।

यद्यपि पाखण्ड-प्रचुर कलि के प्रभाव से अविच्युत रहकर भक्ति द्वारा परम फल प्राप्त करनेवाला कोई विरला ही होता है, तथापि इस दुर्दान्त समय में भक्ति ही एक अनन्य गति और श्रेयःप्राप्ति का सुलभ साधन है। इससे अनन्य भगवच्छरणा—गतिरूप निर्दिष्ट मार्ग की अवश्य प्राप्ति हो जाती है।

कलियुग के आद्य दश सहस्र वर्षों की ससारता और शेष समय की निःसारता ब्रह्मवैवर्त पुराण में सुन्दर, युक्ति-पूर्ण ढंग से निर्दिष्ट की गई है। वहाँ कलियुग को पुच्छ-सहित यव की उपमा दी गई है। उसके प्राथमिक दस हजार वर्ष यवाकारवत् एवं शेष ४२२००० वर्ष यव की सत्त्वहीन तुषमात्र पूँछ के समान बतलाये गये हैं। यह ध्यान रखने योग्य है कि जिस प्रकार यव सत्त्वविशिष्ट होते हुए भी स्वल्प, और उसकी पुच्छ विशेष

लम्बायमान होते हुए भी सर्वथा सत्त्व-हीन होती है, उसी प्रकार कलि का आदिम ( १०००० वर्ष ) समय स्वल्प होते हुए भी सत्त्व-विशिष्ट, और अवशिष्ट समय अधिक होते हुए भी सर्वथा सार-हीन है। यव के अग्रिम भाग में—केवल तुष की एक तीखी नोंक, उसके ऊपरी भाग में तुष और भीतरी भाग में प्रथम क्रमशः वर्धिष्णु, मध्य में पूर्ण एवं अन्त में—क्रमशः क्षयिष्णु सारभाग होता है। इसी प्रकार की स्थिति कलियुग की भी है। कलि की निःसारता धर्मग्लानि, और सत्त्व-विशिष्टता धर्म-स्थिति तथा धर्म-वृद्धि है। कलि के प्रारम्भिक काल से अद्यावधि घटित घटनाओं का सिंहावलोकन करने से यह कथन अक्षरशः चरितार्थ हो जाता है।

यव की तुष-मात्र अग्रिम नोंक के समान कलि की प्रारम्भिक निःसत्त्वता-स्वरूप जब धर्मग्लानि हुई, तब धर्मी-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के स्वधाम पधार जाने पर धर्मराज युधिष्ठिर भी स्वक्रिया-शक्तियों के साथ भूतल का परित्याग कर स्वर्ग चले गये। भाग० १ स्कं० १६-१७ अध्यायों में वर्णित 'पृथ्वी-धर्म-सम्वाद' तथा 'कलि-निग्रह'-नामक प्रसङ्गों से इस प्रारम्भिक धर्मग्लानि का स्पष्ट परिचय उपलब्ध होता है।

प्रारम्भिक धर्मग्लानि के अनन्तर यव के समान कलि में क्रमशः सत्त्व-स्वरूप भागवतधर्म—का भी विकास होने लगा। यद्यपि यव के उपरितन छिलके के समान कलि में परितः निःसत्त्वता के कारण समय-समय पर धर्मग्लानि होती थी, पर साथ ही साथ

मध्यस्थ सत्त्व की क्रमिक वृद्धि के कारण धर्म का सर्वथा लोप नहीं हो सकता था। इतिहास में यह वह समय है, जब बुद्धावतार के द्वारा वैदिक मत का उच्छेद और नास्तिकता का प्रबल प्रचार हुआ था। इसके अनन्तर कुमारिल भट्ट, मण्डन मिश्र तथा शंकराचार्य आदि के द्वारा वैदिक वर्णाश्रम-धर्म की प्रतिष्ठा से आस्तिकता की स्थापना हुई। कलिकाल में—यव की अन्तःसारता की वृद्धि के अनुरूप यथासमय श्रीविष्णुस्वामी*, उनके मार्ग के सात सौ आचार्य तथा विल्वमङ्गल, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्यादि के द्वारा जीवों के कल्याणार्थ भागवत-धर्म की वृद्धि और उसका प्रचार होता रहा है। यह समय कलि के दो हज़ार से चार हज़ार वर्षों के आस-पास का माना जा सकता है।

यवाकार कलि का सत्त्वविशिष्ट मध्य भाग उसके ४५०० वर्षों के अनन्तर ५५०० वर्षों तक माना जा सकता है। इसमें भी अधिक सत्व-सम्पन्न मध्य भाग तो ५००० वर्षों के भीतर ही हो सकता है। कलि के ५ हज़ार वर्ष पूर्ण हो जाने पर यवाकारवत्

---

* विष्णु स्वामी का समय वि० सं० से ६०० वर्ष पूर्व माना जाता है। विल्वमंगल भगवदाज्ञानुसार योग द्वारा वल्लभाचार्य के समय तक स्थित रहे, ऐसा प्रसिद्ध है।

कुमारिल भट्ट, मण्डनमिश्र तथा शंकराचार्य का समय नवमी शताब्दी के आस पास माना जाता है। रामानुजाचार्य का समय अनुमानतः एकादश शताब्दी है। वल्लभाचार्य का समय सोलहवीं शताब्दी है। मध्वाचार्य का समय तेरहवीं शताब्दि है।

उसकी सत्त्व-हीन स्थिति का क्रमशः प्रारम्भ होने लगता है। अन्ततोगत्वा क्रमशः सत्त्व-हीनता की वृद्धि होते-होते कलि के दस हज़ार वर्ष पूर्ण हो जाते हैं, और अन्त में यव की पुच्छ के समान सार-हीन उसका अन्तिम अधिक समय अवशिष्ट रह जाता है। कलि के इस सार के वृद्धि-ह्रास के अनुरूप धर्म-भक्ति का भी वृद्धि-ह्रास होता है, और अन्त में पुच्छ-स्वरूप कलि के प्रारम्भ होते ही धर्म, कर्मादि का सर्वथा लोप हो जाता है। इस समय को पुराणों में "घोर कलि-काल" कहा गया है।

कलियुग और श्रीवल्लभाचार्य के समय की तुलना करने से सुस्पष्ट विदित होता है कि आचार्य-चरणों का प्रादुर्भाव ऐसे समय हुआ था, जब कलि के सत्त्व-विशिष्ट मध्य भाग का प्रारंभ हो चुका था। संवत् १५३५ में श्रीवल्लभाचार्य का प्रादुर्भाव है। सम्प्रति (सं० १९९० में) वल्लभाचार्य के ४५५ और कलि के ५०३४ गताब्द होते हैं। कलि के गत वर्षों में वल्लभाचार्य के गताब्द घटा देने पर ४५७९ वर्ष निकलते हैं, जो वल्लभाचार्य के प्राकट्य समय कलि के गताब्द थे। इस समय को हम यवाकार कलि का पूर्ण सत्त्व-विशिष्ट मध्य भाग कह सकते हैं।

वेद-शास्त्रानुसार जीवों को भक्ति के द्वारा कल्याण-मार्ग पर आरूढ कराने के लिये कलियुग का ऐसा सर्वोत्तम समय भगवद्वदनानलावतार, जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य को समधिगत नहीं हुआ। परम भागवत कृष्णचैतन्य-महाप्रभु, हिंदी-काव्य-सूर्य सूरदासजी तथा रामचरितमानसकार

तुलसीदासजी आदि जो भगवद्भक्त महानुभाव इस समय प्रकट हुए थे, उन्होंने भी भक्ति रूपी सुरसरित् के पुण्य प्रवाह से समस्त भारत को आप्लावित कर दिया था। कलि में ऐसा सर्वोत्तम भक्ति के अनुकूल समय न तो पुनः प्राप्त ही हुआ है, और न होगा।

कलि के मध्य भाग पाँच हज़ार वर्षों के पूर्ण हो जाने पर संप्रति उसकी सत्त्व-हीनता दृष्टिगोचर होने लगी है, जिससे धर्म, कर्म, भक्ति आदि सत्कार्यों का क्रमिक ह्रास होने लग गया है। इसी प्रकार ह्रास होते २ दश सहस्र वर्षों के व्यतीत हो जाने पर इनका सर्वथा लोप हो जाना है।

पुच्छ-स्वरूप, सर्वथा सत्त्वरहित कलि के शेष समय—घोर कलि-काल—की परिस्थिति के विषय में समस्त पुराणों का ऐकमत्य है। वहाँ लिखा है कि दस हज़ार वर्षों के अनंतर पुष्कर-प्रयागादि तीर्थ, गंगा-यमुना आदि पवित्र नदियाँ, अयोध्या-मथुरा आदि सप्तपुरियाँ, तथा गोवर्धन आदि पवित्र शैल, भूतल में अन्तर्हित हो जाने के कारण मनुष्य-दृष्टि से ओझल हो जायँगे। तीर्थ-स्थलों में राक्षस-प्रकृति, पशुवदाचरणशील मनुष्यों तथा दुष्ट जन्तुओं का निवास होगा। और अर्थ, काम की प्रबलता से धर्म-व्यवस्था के सर्वथा तिरोहित हो जाने पर पाप का पूर्ण साम्राज्य होगा ॐ। अंत में भगवान् कल्कि-स्वरूप से अवतार लेकर जब

---

ॐ इस समय भी तीर्थ-स्थलों में पापाचरण-पूर्ण परिस्थिति, गंगा, यमुना आदि की प्रवाहमन्दता, धर्म के प्रति उदासीन लोक-रुचि, आदि भाविनी परिस्थिति के सूचक प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

पुनः धर्म-संस्थापना करेंगे, वह समय कृतयुग का प्रारंभिक काल माना जायगा।

कलि-विषयक, कर्तव्यबोधक उक्त शास्त्र-वचनों के अध्ययन से यह निर्विवाद निर्णीत होता है कि कलिमें नृपति चक्रवर्ती महाराज युधिष्ठिर के राज्य-समय के बाद दश सहस्र वर्ष पर्यन्त ही भूतल पर भगवद्भक्तों का प्राकट्य होता है। इसके बाद का समय साधु-पुरुष तथा सत्कार्यों के अनुगुण नहीं रहता। यज्ञ-याग, जप-तप, योग-समाधि आदि के अकिंचित्कर हो जाने से एकमात्र भक्ति ही कल्याण-प्राप्ति का साधन अवशिष्ट रह जाता है। अतः ऐसे समय सर्वतोभावेन श्रीहरि का ही आश्रय ऐहिकामुष्मिक फल-प्रद सिद्ध होता है।

कलियुग में भक्ति ही जब एक परम पुरुषार्थ माना गया है, तो वेदोक्त वर्णाश्रम धर्म का आचरण न कर पाने पर भक्तों को शास्त्रोक्त प्रत्यवाय लगता है या नहीं? यदि लगता है, तो भक्ति की परम पुरुषार्थता कैसी? और, नहीं लगता है, तो क्यों? क्योंकि यह तो सिद्ध ही है कि शास्त्रोक्त धर्माचरण-हीन पुरुष को अवश्य प्रायश्चित्त की प्राप्ति है। इत्यादि शंका का समाधान वेद, गीता, भागवत-सिद्धांतों के पर्यालोचन से सहज ही हो जाता है। कलियुगी जीवों के उद्धारार्थ—शुकाचार्य द्वारा संप्राप्त निगम-कल्पतरु के फल-स्वरूप—सर्वशास्त्र संदेहवारक श्रीभागवत के ११ स्कं०, ५ अध्याय में वर्णित है कि "जो मनुष्य सर्वात्मभाव से सर्वपरित्याग-पूर्वक शरणागत-वत्सल भगवान्मुकुन्द की शरण

ग्रहण कर लेता है, उसके लिये कोई भी लौकिक, वैदिक कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाते। वह देव, ऋषि, पितर आदि किसी का भी किंकर तथा ऋणी नहीं रहता। क्योंकि सर्वमूलभूत भगवान् श्रीकृष्ण के प्रसन्न हो जाने पर तदंश रूप समस्त देवादिक परितृप्त हो जाते हैं, और भगवत्परिचर्या में यावन्मात्र कर्तव्यों की परिसमाप्ति मानी गई है। उक्त प्रसंग में भगवत्कथा के श्रवण, मननादि द्वारा पूर्ण श्रद्धोत्पत्ति के अनन्तर जब तक पूर्ण लोक-विरक्ति न हो जाय, तभी तक भक्ति के अधिकारी को लौकिक, वैदिक, कर्तव्यों की आवश्यकता का उल्लेख किया है।

"पूर्ण भक्त और विरक्त हो जाने पर मनुष्य को फिर कोई बंधन नहीं रहता। पूर्णतया ज्ञाननिष्ठ, निरपेक्ष, विरक्त, भक्त अखिल आश्रमों को सचिह्न परित्याग कर स्वच्छन्द विचरण कर सकता है।" इस प्रकार के शास्त्र वचनों से सिद्ध है कि पूर्ण भक्त को जब किसी प्रकार का बन्धन हीं नहीं है, तो उसे कर्म न करने पर प्रत्यवाय भी कैसे लग सकता है। हाँ, साधन दशा में इन सब धर्मों का यथाशक्य अनुष्ठान करना परमावश्यक है।

यद्यपि वेदप्रतिपादित वर्णाश्रमधर्म का परिपालन आवश्यकीय है, तथापि भक्त यदि कलि के प्रभाव से उसका यथावस्थित-आचरण नहीं कर पाता, तो उसमें उसका दोष नहीं है। क्योंकि वह दोष-परिहारार्थ भक्ति का आश्रय लिए हुए है। भक्ति निष्काम कर्मानुष्ठान अथवा सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक भगवन्निष्ठता से,

पुष्करपलाशवत् निर्लेप वृत्ति हो जाने पर भगवद्भक्त को कोई प्रत्यवाय बाधक नहीं होता। रही बात भक्ति की परम पुरुषार्थता की, सो कलियुग में यही सर्वश्रेष्ठ है यह हम पूर्व में सविस्तर वर्णन कर आये हैं।

उपर्युक्त शास्त्र वचनों से—भक्तों के असदाचरण की कोई गणना नहीं, वे चाहे जो कर सकते हैं, उनके लिये ऐसा करने पर कोई दोष-निर्देश या दण्ड-विधान नहीं है। इस प्रकार के प्रश्नों का समाधान यह है कि जो अनन्य, भगवन्निष्ठ भक्त हैं, वे बुद्धि-पूर्वक अशास्त्रीय अनुष्ठान अथच किसी प्रकार का निषिद्धाचरण कालत्रय में भी नहीं करते। यदि ऐसा कोई कर्म उनके द्वारा सम्पादित भी हो जाता है, तो उसमें वे निमित्त और भगवदिच्छा प्रधान कारण होती है। यदा-कदा च भगवदिच्छा से प्रेरित होकर किसी दुष्कर्म में प्रवृत्त हो जानेवाले भक्त का दोष भगवान् स्वयं निवारण कर देते हैं।

"ईश्वरः सर्वभूतानाम्" इत्यादि गीता के श्लोकों में ईश्वर को सकल चराचर-प्रेरक बतलाकर उसकी शरणप्राप्ति से ही दोष की निवृत्ति कही गई है। भगवान् कृष्ण ने यह सोचकर कि मेरे उक्त कथन से अर्जुन मदतिरिक्त किसी अन्य ईश्वर की कल्पना न कर बैठे, उन्होंने अग्रिम श्लोक में स्फुट आज्ञा-प्रदान की है कि—हे अर्जुन! तू मदेकचित्त, मद्भक्त एवं मदर्थ सर्वकर्मसमपर्क होकर मुझे नमस्कार कर। मैं प्रतिज्ञा-पूर्वक कहता हूँ कि—प्रिय होने के कारण तू अवश्य मुझे प्राप्त करेगा। सर्व धर्मों का

परित्याग करते हुए मेरी शरण प्राप्त कर लेने पर मैं समस्त पापों से निःसन्देह तुझे मुक्त कर दूँगा।" इत्यादि वचनों से सर्वात्मभाववाले भक्त को कोई पातक बाधक नहीं होता, यह सिद्ध होता है।

"अपि चेत्सुदुराचारो" इस गीता के श्लोक से तो यह भी विज्ञात होता है कि—अतिशय दुराचारी भी पुरुष यदि अनन्य भक्त होकर भगवद्भजन में प्रवृत्त हो जाता है, तो वह दुराचारी नहीं, अपितु साधु पुरुष है; क्योंकि अब वह सन्मार्ग पर आरूढ हो रहा है। इस भगवद्वाक्य से जब भक्तिशील पुरुष के दुराचरण भी अनिर्वाच्य हो जाते हैं, तो पूर्ण भक्तों को प्रत्यवाय-प्राप्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

"स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य" (भाग० ११ स्कं० ५ अ०) इस श्लोक पर व्याख्या करनेवाले सभी विद्वानों का यही एक मत है कि "परात्पर भगवान् श्रीहरि हृदयसन्निविष्ट होकर अनन्य भाव से स्वकीय चरणारविंदों का सतत आश्रय लेकर भजन करनेवाले अपने प्रिय भक्त के ज्ञान-पूर्वक किंवा अज्ञान-पूर्वक किये हुए समस्त विकर्मों को—उन्मूलित कर देते हैं।" क्योंकि कर्माकर्म विकर्मों की ब्रह्मार्पणता होते रहने के कारण भक्त पर उनका कुछ भी उत्तरदायित्व न रहने से वे सब अग्नि-ज्वाला में शुष्केन्धन के समान भक्ति में भस्मीभूत हो जाते हैं। अतः पूर्वकथित भक्त का दोषभाक् न होना स्वतःसिद्ध है।

यह तो हुई पूर्ण प्रपन्न भक्त पुरुषों की परिस्थिति, पर जो साधनभक्ति में परिनिष्ठित हैं—भक्ति-सोपान के आरुरुक्षु

हैं—उन्हें सर्वदा शास्त्रीय मर्यादा का ध्यान रखकर ही कर्मा-चरण करना चाहिये। क्योंकि उन्हें विहित कर्मादि का यथोक्त सदसत्फल अवश्य भोगना पड़ता है।

"ज्ञानयोग, कर्मयोग अथवा भक्तियोग का अनुष्ठान करनेवाले किसी पुरुष से यदि असावधानी किंवा प्रमाद से कोई विगर्हित कर्म हो जाय, तो अनुष्ठित योग द्वारा ही उसे उसको भस्म कर डालना चाहिये। प्रायश्चित्तादि अन्य प्रयत्नों के करने की उसे आवश्यकता नहीं होती।" यह कथन मध्यमाधिकारी के लिये चरितार्थ होता है। भागवत के "यदि कुर्यात्प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम्, योगेनैव दहेदंहो नान्यद्यत्नं कदाचन।" इस श्लोक का यही सारांश है।

प्रसंगोक्त इन शास्त्र-वचनों की संगति से यही निष्कर्ष निक-लता है कि—भगवद्भक्त शास्त्र-मर्यादा के विरुद्ध कदापि आचरण नहीं करते। यदि भगवत्प्रेरणा से उनके द्वारा कोई शास्त्र-विरुद्ध कर्म हो भी जाता है, तो अनासक्ति के कारण उसका दोष उनको नहीं लगता, भगवान् उसे सर्वथा निवृत्त कर देते हैं। "भग-वदिच्छया सम्पादित भक्त के सदसत्कर्मों में प्रभु का कौन सा अभिप्राय अन्तर्हित है" यह जब योगियों को भी दुर्ज्ञेय है, तो साधारण कोटि के जीवों की कथा ही क्या?

इस प्रकार शास्त्रीय विवेचन से कलियुग में भक्ति की मुख्यता, सर्वसुलभता एवं निश्चितफलदातृता सिद्ध होती है। भक्तिनिष्ठ पुरुष वेद-शास्त्रोक्त, सनातनसदाचारस्वरूप वर्णाश्रमधर्मों का

यथाशक्य आचरण करते हुए समय-गति को देखकर निष्काम भक्तियोग के अनुष्ठान में ही अहर्निश तत्पर रहते हैं। कलि के प्रभाव से यदि उनके धर्माचरण में किसी प्रकार की न्यूनता अथवा अशक्यता आकर उपस्थित होती है, तो भगवदनुग्रह से उनके दोषों की निवृत्ति हो जाती है। भगवदीय जन "ईश्वरेच्छा से ही समस्त कर्मों का सम्पादन हो सकता है" इस प्रकार के ज्ञान द्वारा, कृत कर्मों के फल में अनासक्ति रखते हुए सर्वतोभावेन प्रभुपरायण ही रहते हैं।

प्रस्तुत प्रकरण के 'आपादचूड' पर्यालोचन से इदमित्थतया यह निर्धारित होता है कि—इस युग में भगवान् श्रीकृष्ण ही देव, उनकी भक्ति ही परम पुरुषार्थरूप कर्तव्य और श्रीमद्भागवत ही कर्तव्यबोधक शास्त्र है। कलि के आद्य दश सहस्र वर्षों में बहुलता से वैष्णव जीवों का प्रादुर्भाव होतेरहने के कारण उनके कल्याणपथ-प्रदर्शनार्थ भगवान् भक्ति-प्रचारक आचार्य रूप में यथा समय प्रकट होकर धर्मस्थापना द्वारा अधर्म नाश करते हुए वास्तविक ज्ञान ज्योति से विश्व को आलोकित करते हैं।

'सम्प्रदाय-प्रदीप' के श्रीविष्णुस्वामी-स्नेह-परिपूर्ण
पात्र, श्रीविल्वमङ्गल-वर्तिका, श्रीवल्लभाचार्य-
प्रज्वलित दीप-शिखा-स्वरूप हैं। भक्ति-
मार्गीय पथिकों का "अज्ञानान्धकार
निवर्तक" प्रथम प्रकरण

समाप्त

# द्वितीय-प्रकरण

## ( श्रीविष्णुस्वामि चरित )

धर्मराज युधिष्ठिर के स्वर्गारोहणानन्तर महाराजा परीक्षित के समय जब कलि के प्रारम्भ में धर्म-ग्लानि हुई थी, तब उन्होंने कलि का निग्रह कर पुनः धार्मिक-मर्यादा की स्थापना की थी। जिससे समस्त प्रजा पूर्ववत् धर्माचरण में तत्पर हो गई। कुछ काल बाद कलि ने परीक्षित पर ही अपना प्रभाव डाला, जिससे मदान्ध होकर वह महदतिक्रमण का गुरुतर अपराध कर बैठे, इसी के दण्ड-स्वरूप ऋषिकुमार द्वारा उन्हें शाप प्राप्त हुआ। यद्यपि ब्रह्म-शाप निरर्थक नहीं जा सकता था, तथापि गर्भ में स्वयं भगवान् ने जिसकी रक्षा की हो, उस हरिदासवर्य्य महाराज परीक्षित का किसी प्रकार का अकल्याण भी नहीं हो सकता था। "नमे भक्तः प्रणश्यति" इस प्रतिज्ञानुसार भगवान् ने राजा को निमित्त बनाकर जीवों के कल्याणार्थ शुकाचार्य द्वारा श्रीभागवत का प्राकट्य कराया। जिसके फल-स्वरूप सप्ताह-श्रवण से परीक्षित को भगवत्पद की प्राप्ति हुई, और भागवत-प्रचार से कलिकाल में पुनः भक्ति की भागीरथी बहने लगी।

'भागवत-माहात्म्य' के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि—द्राविड देश में भक्ति की उत्पत्ति, कर्णाटक में उसकी वृद्धि, क्वचित् २

महाराष्ट्र में उसकी प्रवृत्ति और गुर्जर देश में उसकी जीर्ण-अवस्था हुई है। यद्यपि भक्तिमार्गीय किसी आचार्य की उपस्थिति विना उस समय भक्ति पुष्पित और फलित नहीं हो सकती थी, तथापि कलि की विशेषता के कारण उसका सर्वथा नाश भी नहीं हो सकता था। इसीसे कलियुग के प्रारम्भ के प्रायः २५०० वर्षों के व्यतीत हो जाने के बाद भक्ति के उद्धार एवं प्रचार का पुनः स्वर्ण संयोग आया।

उस समय स्वकीय धर्ममय शासन से प्रख्यात एक क्षत्रिय राजा द्राविड देश में राज्य करता था। उसके राज्य-सूत्र का संचालक परमप्रसिद्ध एक ब्राह्मण मंत्री था, जो अपनी प्रतिभा और नीति-पटुता के लिये विश्व-विख्यात था। उस ब्राह्मण मंत्री के यहाँ कुछ समय बाद एक तेजस्वी बालक का जन्म हुआ। पिता ने अपने पुत्र का नाम 'विष्णुस्वामी' रक्खा *।

विष्णुस्वामी शुक्ल-पक्ष के कलानिधि के समान धीरे-धीरेबढ़ने लगे। भगवद्विभूति-स्वरूप होने के कारण क्रमशः उनमें समस्त गुणों का प्रकाश होने लगा। वे जिस प्रकार स्वरूप-सौन्दर्य में कुसुमायुधोपम थे, उसी प्रकार वेदार्थविद्या में चतुर्मुख और बुद्धि-चातुर्य में सुर-गुरु की समकक्षता को प्राप्त करने लगे थे। "यो यदंशः स तं भजेत्" इस वाक्य के अनुसार ईश्वर-भक्ति में

---

* विष्णु स्वामी का समय विक्रम संवत् से ६०० वर्ष पूर्व माना गया है।

तो वह अनन्यही थे। यज्ञोपवीत-संस्कार के अनन्तर विष्णुस्वामी को विद्याध्ययन कराया गया। उन्होंने गुरुकुल में गुरु-शुश्रूषा और सतताभ्यास से कुछ समय में ही वेद-उपवेद, इतिहास, पुराण-उपपुराण, स्मृति, वेदान्त, सांख्य, योग आदि समस्त शब्द-साहित्य का रहस्य-ज्ञान अधिगत कर लिया। शास्त्रीयज्ञान एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा में वह द्वितीय वेदव्यास के समान माने जाने लगे।

"भूतल पर जब दैवी सृष्टि के जीवों का उद्भव होने लगता है, तब भगवान् विष्णु भी अंश अथवा विभूति-रूप से अवतार लेते हैं। मेढीस्तम्भ का आश्रय लेकर जिस प्रकार बलीवर्द घूमते हैं, उसी प्रकार उस भगवद्विभूति का आश्रय लेकर भगवदीय जीव स्वकर्तव्य-परायण बनते हैं। कलिकाल में उत्कल-देशस्थित पूर्ण पुरुषोत्तमस्वरूप भगवान् जगदीश के अंश से भक्ति-प्रवर्तक चार संप्रदायों के आचार्यों का प्राकट्य होता है।" इत्यादि पद्मपुराण के वचनानुसार भक्ति-स्थापना के लिये भगवान् कृष्ण सर्व प्रथम विष्णुस्वामी के रूप से अवतरित हुए।

विष्णुस्वामी के अधीतविद्य एवं योग्यवय हो जाने पर एक दिन उनके मन में सहसा विचार हुआ कि—मैं किस प्रकार अपने पिता से अधिक प्रख्यात हो सकता हूँ। इस समय मेरे पिता के समान न तो अन्य कोई नृपति का कृपा-पात्र मंत्री ही है, और न इस राजा के समान कोई भारत-प्रसिद्ध भूपति ही। अतः राजसेवा द्वारा इस महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति नहीं हो सकती। इसके लिये तो मुझे किसी सर्वोत्कृष्ट देव की उपासना करना

चाहिये। यद्यपि सम्पत्ति में कुबेर सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं, तथापि उनकी अपेक्षा इन्द्र, इन्द्र की अपेक्षा रुद्र और रुद्र की अपेक्षा उनके पितृ-स्वरूप ब्रह्मा ही उच्चतम हैं। ब्रह्मा भी भगवान् नारायण के नाभिकमल से उद्भूत है, अतः सर्वापेक्षया यद्यपि नारायण ही उत्कृष्ट देव सिद्ध हो सकते हैं, परन्तु मत्स्य, कूर्म आदि अवतारों में वह भी किसी अन्य देव का भजन-मनन करते हुए, श्रुतिगोचर होने के कारण साधारण कोटि के परिज्ञात होते हैं। अतः निश्चय नहीं किया जा सकता कि—देवाधिदेव कौन है? इस प्रकार विचार-सागर में डूबते-उतराते विष्णुस्वामी किसी प्रकार का निश्चय न कर सके। बहुत कुछ ऊहापोह के बाद उन्होंने अन्त में यह निर्धारित किया कि—सर्वशास्त्रों में वेद, वेद में उपनिषद् और उपनिषदों में बृहदारण्यक की गणना उच्च कोटि में है। अतः तत्प्रतिपादित सर्वेश्वर ही मेरा उपास्य देव हो सकता है।

बृहदारण्यक ४ अ०, ४ ब्राह्मण में "स वा एष महानज आत्मा सर्वस्य वशी" से लेकर "स सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय" इस वाक्य पर्यन्त ईश्वर की सर्वेश्वरता का यथावत् वर्णन है। अन्य उपनिषद् भी सत्यकाम, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, अचिन्त्यानन्त-शक्ति, भक्तवत्सल, कृतज्ञ इत्यादि विशेषणों से उसी परब्रह्म जगदीश्वर का प्रतिपादन करते हैं। यद्यपि अरूप एवं अनाम होने के कारण उस ब्रह्म की न तो भक्ति से सेवा ही हो सकती है, और न कीर्तन ही, किन्तु जो कुछ भी हो, राजसेवक के समान उस सर्वेश्वर की यथोपलब्ध साहित्य-सामग्री-संभार से अनन्य भक्ति पूर्वक परिचर्या

करना ही मेर परम कर्त्तव्य है। सर्वज्ञ, भक्तवत्सल करुणा-वरुणालय वह ईश्वर मेरी सेवा से सन्तुष्ट होकरअवश्य अपना साक्षात्कार कराएगा। इस प्रकार का दृढ़ निश्चय कर विष्णुस्वामी ने सुन्दर मन्दिर में सेवोचित समस्त उत्कृष्ट वस्तु और साधनादि एकत्रित कर महाराजोपचार से ईश्वर की सेवा का प्रारम्भ कर दिया। वह बड़ी भक्ति, भावना और श्रद्धा के साथ प्रातःकाल से लेकर सायंकाल पर्यन्त भगवान् की परिचर्या करते हुए ध्याना-वस्थित रहने लगे। यद्यपि विष्णुस्वामी की अनन्य भक्ति और सेवा-क्रम में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं थी, तथापि ईश्वर उसे अंगीकार नहीं करते थे। उनकी वह सब सेवा-सामग्री अनंगीकृत और अनुपभुक्त अवस्था में ही पड़ी रह जाती थी। जिसे देखकर विष्णुस्वामी को हार्दिक पश्चात्ताप होने लगा।

इस प्रकार कितने ही दिनों तक मानसिक परिताप उठाते रहने के बाद एक दिन विष्णुस्वामी ने भगवत्साक्षात्कार न हो जाय, तब तक के लिये अन्न-जल के परित्याग का दृढ़ निश्चय कर लिया। वह प्रतिदिन भगवत्सेवा तो यथावत् ही करते थे, पर अस्वीकृत-नैवेद्य को जलाशय में विसर्जित कर निराहार ही रह जाते थे। इस प्रकार छह दिन लगातार उपवास करते रहने पर भी ईश्वर ने उनकी सेवा अंगीकार नहीं की। भक्तवत्सल भगवान् किंचिन्मात्र भी द्रवीभूत नहीं हुए।

"सतयुग में अस्थियों में, त्रेता में मांस में, द्वापर में रुधिर में, और कलियुग में अन्न में प्राणों की स्थिति मानी गई है।

इनके नष्ट होते ही प्राण-प्रयाण का उपक्रम होने लग जाता है।" इस शास्त्रवचन के अनुसार यद्यपि सतत छह दिनों तक अन्न-जल ग्रहण न करने से विष्णुस्वामी के कलेवर में शिथिलता और प्राणों में पूर्ण विकलता आ गई थी तो भी उन्होंने अपना विचार परिवर्तित नहीं किया। वे उसी प्रकार श्रद्धालु एवं सेवापरायण बने रहे। कायिक दोषों को उपवास से भस्मकर सेवा द्वारा सर्वज्ञ कृपालु परमेश्वर को प्रसन्न करने की दृढ़ धारणा रखते हुए विष्णुस्वामी ने यथावत् सेवा-क्रम जारी रक्खा। परंतु इस पर भी उन्हें भगवत्कृपा प्राप्त न हुई। अंत में उन्होंने अग्नि-प्रवेश का भी विचार बद्धमूल कर लिया। सप्तम दिवस यथासमय सर्व-विध भगवत्परिचर्या कर मंदिर के कपाट बंद कर वे बहिःस्थित होकर भगवद्भजन में संलीन हो गये।

इस प्रकार विष्णुस्वामी के दृढ़ आग्रह और भक्ति से आकृष्ट होकर अन्त में भगवान् को दयार्द्र होना पड़ा। वे अपने परिकर-सहित मन्दिर में प्रकट होकर सेवार्थ सम्पादित सामग्री का सप्रेम उपयोग करने लगे। इसी समय भजनानन्दनिमग्न विष्णुस्वामी के मन-मन्दिर में अलौकिक प्रकाश हुआ, और उनकी आत्मा में आनन्द की धारा बहने लगी। भगवत्प्रेरित होकर उन्होंने जो मन्दिर का कपाटोद्‌घाटन किया, तो सन्मुख ही दर्शनीयतम, शान्त, मनोमोहक भगवत्स्वरूप का साक्षात्कार किया। "सन्तं वयसि कैशोरे" इत्यादि श्लोकों में जिस प्रकार भगवद्विग्रह का वर्णन है, उसी प्रकार किशोराकृति वेणुवादन-

तत्पर, नवीननीरदश्याम, शृंगार-मण्डित, रस-मूर्ति, मनोरम-त्रिभंगललिताकृति भगवान् के भव्य स्वरूप के साथ ही वाम-दक्षिण-भाग-स्थित, तप्तसुवर्णवर्ण-धारिणी, वयोरूपगुणोपेत श्री-रूपिणी दो देवियों के भी नयनाभिराम दर्शन कर विष्णु स्वामी कृतकृत्य हो गये, आज उनकी चिर-संचित अभिलाषा फलवती हुई।

भगवद्दर्शन से प्रसन्न-मन होकर विष्णुस्वामी अंजलिबद्ध हो भगवान् से प्रार्थना करने लगे। भगवन्! स्वकीय शास्त्र-ज्ञान के अनुसार मैं आपको उपनिषत्प्रतिपादित, निर्गुण, अनाम, अरूप, सर्वेश्वर न मानकर सगुण-स्वरूप से मान रहा हूँ। यदि आप शास्त्र-वचनों से अपनी परात्परता सिद्ध कर सकें, तो मैं आपको श्रद्धा पूर्वक प्रणाम कर सकता हूँ। प्रभो! क्या मैं यह जान सकता हूँ कि आपने मेरी सेवा को अंगीकृत किया है?

विष्णुस्वामी के अनन्य भाव-बोधक इन वचनों को सुनकर भगवान् स्मित-पूर्वक कहने लगे—सौम्य! यदि मेरे सिवा तुम्हारा कोई अन्य सर्वेश्वर है, तो उसने उपस्थित होकर तुम्हारी इस सेवा का अगोकार क्यों नहीं किया? यदि मैंने चोरी से इस सम्पादित सामग्री का उपभोग किया है, तो क्या मुझे तुम उस ईश्वर के द्वारा दण्ड नहीं दिलवा सकते? इन सब बातों से तुम्हीं विचार कर सकते हो कि—मैं कौन हूँ?

भगवान् के युक्तिपूर्ण इस कथन को सुनकर विष्णुस्वामी गद्गद हो कहने लगे—देव! मुझे मोहक वाग्जाल में आबद्ध न कर,

कृपया मेरे संशय को छिन्न करते हुए आप अपने अलौकिक माहात्म्य का परिज्ञान कराइये, जिससे आप के सिवा अन्य में ईश्वरत्व-बुद्धि दूर होकर आपमें ही सुदृढ़, सर्वतोधिक स्नेह की उत्पत्ति हो जाय।

विष्णुस्वामी के इस कथन को सुनकर भगवान् ने कहा— सौम्य! मैं ही सर्वेश्वर हूँ। "कृष्णोऽय साक्षाद् ब्रह्म", "कृष्णो वै परमं दैवतम्" "कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।" इत्यादि अनेक श्रुतियाँ मेरे ही सर्वेश्वरत्व का प्रतिपादन करती हैं। शास्त्र, पुराणआदि सभी प्रमाण-स्वरूप ग्रंथ इस विषय में एकमत हैं। बृहद्वामन-पुराणोक्त भृगु ऋषि और ब्रह्माजी के एतद्विषयक संवाद से भी इसी का समर्थन होता है। वह इस प्रकार है—

एक समय सुर-ज्येष्ठ ब्रह्माजी ने ऋषियों के समक्ष अपने पुरातन वृत्तान्त का वर्णन करते हुए कहा कि—व्रजगोपिकाओं की चरण-रेणु-प्राप्ति के लिये चिरकाल तक तपश्चर्या करने पर भी मुझे उसकी प्राप्ति नहीं हुई। पितामह के कथन को सुनकर भृगु ऋषि ने सादर प्रश्न किया—भगवन् ब्रह्मण्य देव! लोकविश्रुत अन्य भक्तों की चरणरज की कामना न कर आपने जो साधारण गोपि-काओं की पद-रज-प्राप्ति की कामना की इसमें ऐसा क्या रहस्य और महत्त्व है? कृपया आप मेरे इस संदेह को दूर कीजिए।

इस प्रश्न को सुनकर ब्रह्माजी ने श्रुतियों की परम रहस्य रूप, कथा का प्रारम्भ करते हुए कहा। ऋषिवर! व्रजगोपिकाएँ लोक-

सामान्य स्त्रियाँ नहीं हैं। साक्षात् श्रुतियों ने ही तत्स्वरूप में भूतल पर अवतार धारण किया था। शंकर, शेष, लक्ष्मी तथा मैं स्वयं भी उनकी समानता नहीं कर सकता।

एक समय प्राकृत प्रलय हो जाने पर यह व्यक्त जगत् अव्यक्त में लीन हो गया, और केवल चिन्मात्ररूप, काल-मायातिगामी, अक्षर ब्रह्म अवशिष्ट रह गया था। यही अक्षर-ब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम का आनन्दमय, अनाद्यनन्त, व्यापिवैकुण्ठ नामक लीलालोक है। उस लीलामय लोक में सर्वदा विहरण-शील, आनन्द-मात्रकरपादमुखोदरा, रस-स्वरूप, परब्रह्म भगवान् की समस्त श्रुतियों ने स्तुति की। उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर परोक्षवाणी द्वारा अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान् ने उन्हें वर-याचना की आज्ञा दी।

भगवद्वाणी को सुनकर श्रुतियों ने प्रार्थना की—भगवन् ! आपके नारायण आदि समस्त सगुण स्वरूप तो हमें परिज्ञात हैं, पर आपके वाङ्मनोगोचरातीत होने पर भी परम भागवतों के द्वारा अनुभूत, परमानन्दमय निर्गुण स्वरूप की दर्शनाभिलाषा हमारे हृदय में जागरूक हो रही है। यदि आप हम पर प्रसन्न हैं, तो हमें आपके उस स्वरूप के दर्शन होना चाहिए।

श्रुतियों की इस प्रार्थना को सुनकर श्रीहरि ने अनुग्रह द्वारा अनुभवैकवेद्य, प्रकृति से पर, निर्गुण, अक्षर ब्रह्मस्थित, अतिशय-प्रिय, अपने उस नित्य वृन्दावनधाम के उन्हें दर्शन कराये। जिस पुण्य स्थल में निखिल कामदुह, तरु-लता-परिवेष्टित निकुंजों

में पारस्परिक विरोध-भाव को त्याग कर समस्त ऋतुएँ सर्वदा उपस्थित रहती थीं। उनकी मनोहर रचनाओं का विकास पत्र-पत्र और पुष्प-पुष्प पर दृष्टिगोचर हो रहा था। जहाँ विविध रत्न-धातुमय, उभयतट-संयुत, सरिद्वरा श्रीयमुनाजी मन्द गति से प्रवाहित हो रही थीं, और शैलराज गोवर्धन अपने आधिदैविक स्वरूप से शोभमान हो रहे थे। जहाँ अनेक रंग-रंजित, कल-रव-परायण, शुक-पिक-मयूर-हंस-सारसादि विविध पक्षिकुल भाँति-भाँति की क्रीड़ा कर रहे थे। वहां सुन्दर, प्रफुल्लित कदम्ब के तले किशोराकृति, कोटिकन्दर्प-लावण्य, साक्षात् रस-स्वरूप क्षराक्षरा-तीत, भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम, नानाविध-रास-रसोन्मत्त-गोपिका-मण्डल के मध्य में विराजमान हो रहे थे।

समस्त श्रुतियों को अपने पुण्य-धाम और अपीच्य दर्शन के आनन्द में निमग्न देखकर भगवान् ने आज्ञा की—कि श्रुतियो! तुम सबने मेरे जिस लीलास्थल और स्वरूप का दर्शन किया है, उससे बढ़कर न अन्य कोई स्थल है, और न कोई अन्य स्वरूप ही। अब तुम्हारा जो हार्दिक अभिप्राय हो, उसे कहो।

भगवद्वाक्य को सुनकर वेद-श्रुतियों ने निवेदन किया—प्रभो! आपके परम रम्य, मनमोहक इस स्वरूप के दर्शन से हमारे मन कामिनी-भाव को प्राप्त होकर स्मर-क्षुब्ध हो रहे हैं। इस लिये इन गोपसीमंतिनियों के समान हमें भी आपके साथ विहार-लीला की अभिवाञ्छा हो रही है। अतः हमें यह अनुग्रह प्राप्त होना चाहिये।

वैदिक ऋचाओं की इस कामना को सुनकर पूर्ण पुरुषोत्तम ने कहा कि—यद्यपि सम्प्रति तुम्हारे इस मनोरथ की पूर्ति असंभव है, तथापि पुनः सृष्टि होने पर सारस्वत कल्प में मेरे कृष्ण-स्वरूप में प्रकट होने पर व्रज-गोपिका-स्वरूप में तुम्हें यह सौभाग्य प्राप्त होगा। जिसके द्वारा मेरे ऊपर सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह की अभिवृद्धि होकर तुम्हें कृतार्थता प्राप्त होगी। इतना कहकर भगवान् ने अपनी उस लीला का संवरण कर लिया। ⊛

इस पूर्वतन कथा-प्रसंग का प्रवचन करते हुए ब्रह्माजी ने ऋषियों से कहा कि—वे सब ऋचाएँ सर्वदा भगवच्चिन्तन करती हुई सारस्वतकल्प में व्रज-सीमन्तिनी-स्वरूप से भूतल पर अवतरित हुईं, और भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा रास-मण्डलादि अवसरों पर लीला का अनुभव करती हुई भगवद्भाव को प्राप्त हुईं। अतः अब तुम्हारे ध्यानपथ में आगया होगा, कि मैं किस हेतु से साक्षात् श्रुति-स्वरूप गोपिकाओं की चरण-रज-प्राप्ति की कामना करता हूँ। वह महद् भाग्य से उपलब्ध होती है।

लोक-पितामह के इस कथन से समस्त ऋषियों को भी श्री-गोपीजनवल्लभ करुणानिधि भगवान् कृष्ण में परम प्रेमासक्ति होगई, और वे भी भगवद्भजनादि में निरत हो गये।

---

⊛ **मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र पर मोहित ऋषियों को कृपा द्वारा व्रजगोपिका-स्वरूप में अवतरित होने का उल्लेख कृष्णोपनिषद् में उपलब्ध होता है।**

इस प्रसंग-वर्णन से भगवान् ने अपनी परात्परता का निद-र्शन कराते हुए विष्णुस्वामी से पूछा कि सौम्य ! मेरे सर्वेश्वरत्व-प्रतिपादक वाक्य वेद में उपलब्ध होते हैं या नहीं ?

विष्णुस्वामी ने निवेदन किया—विभो ! वेद-शास्त्रादि समस्त ग्रन्थों से इस विषय के अनेक प्रमाण-वाक्य उपन्यस्त किये जा सकते हैं, पर ऐसे भी शब्द-ब्रह्म-निष्णात प्रकाण्ड पण्डित हैं, जो आपके सगुण मूर्त-स्वरूप का निषेध करते हुए, केवल निराकार चिन्मात्र-स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। तत्सिद्धान्तानुसार आपके नाम-रूप, सगुण-स्वरूपादि के वाचक वाक्य पूर्वपक्ष के कथन-मात्र सिद्ध होते हैं। इस शंका के निवारणार्थ कौन-सी शास्त्रीय युक्ति है ? सो कृपया कथन करिये।

भगवान् ने कहा—सौम्य ! तुम्हारा कथन सत्य है। मेरे केवल निर्गुण-निराकार-निर्धर्मक-प्रतिपादक शास्त्रीय वाक्यों का ही आश्रय लेकर कुछ विद्वान् इस पक्ष का समर्थन करते हैं, परन्तु वे मुझ( ब्रह्म )को श्रुति-शास्त्र-प्रतिपादित, विरुद्ध-धर्माश्रय न मानकर एक पक्ष को ही अपना दृढ़ सिद्धान्त मान बैठते हैं। ब्रह्म की साकारता एवं सगुण-सधर्मक-बोधक वाक्यों की संगति के लिये वे यह समाधान करते हैं कि ब्रह्म माया का आश्रय लेने के कारण ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में यह सिद्धान्त नहीं है। माया तो मेरे अधीन है। मैं श्रुतियों में उभयधर्म-विशिष्ट प्रतिपादित किये जाने से वैसा ही हूँ। विरुद्ध-धर्माश्रय ही मेरा वास्तविक स्वरूप है। और दोनों प्रकार ( निर्गुण-सगुण,

निर्धर्मक-सधर्मक, निराकार-साकार ) के रूप से अवस्थिति ही मेरी सर्वेश्वरता है। जो लोग मुझे माया का सम्बन्ध बतलाते हैं, वे मायावादी होने के कारण आसुर सिद्धान्त के पोषक हैं। मैं ही समस्त शास्त्रों का कर्ता और वेत्ता हूँ। असुरों को अपने सिद्धान्त से पराङ्मुख करने के लिये मैंने ही प्रकारान्तर से मायावाद की उत्पत्ति कराई है *।

जब "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते", "पुरुष एवेदं सर्वं", "एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुतियाँ ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानती हैं, तो सत्य, नित्य रूप ईश्वर से उत्पन्न जगत् असत्य और अनित्य कैसे हो सकता है? "कारण के गुण कार्य में अवश्य अनुस्यूत रहते हैं।" इस न्याय के प्रसिद्ध होने पर भी आसुर-मतावलम्बी जन प्रपञ्च को भगवत्कृत न मानकर माया ( अज्ञान ) कृत अतएव असत्य ठहरा देते हैं। इसी प्रकार जीव को भगवदंश-स्वरूप न मानकर उसी को ब्रह्म सिद्ध कर देते हैं। अर्थात् माया-शवलित ब्रह्म को अन्तर्यामी और अविद्या-शवलित ब्रह्म को जीव-संज्ञक मान लेते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र और भागवत से बहिर्भूत होने से आसुर मत है †।

*मायावाद की उत्पत्ति का प्रसङ्ग तृतीय प्रकरण में उपलब्ध होगा।

† प्रस्थानचतुष्टय के सिद्धान्तानुसार वल्लभाचार्य के सिद्धान्त में नामरूपात्मक सृष्टि सत्य नित्य है। क्योंकि दोनो के सर्वविध कारण भगवान् हैं। उभयविध सृष्टि का आविर्भाव और तिरोभाव होता है, उत्पत्ति और नाश नहीं। मायाकृत अविद्या से उत्पन्न 'अहन्ता-

मायावाद के सिद्धान्तानुसार प्रपञ्च को असत्य मान लेने पर अनुष्ठित धर्म, कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि पुरुषार्थ तथा तज्जन्य फल भी असत्य, अवास्तविक हो जाते हैं, उनके करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। अतः प्रपञ्च को सत्य-भगवद्रूप मानने पर ही कर्मों की सार्थकता हो सकती है, और तभी विहित कर्म, ज्ञान, भक्ति सत्य होकर स्वजन्य वास्तविक फल को प्रदान कर सकते हैं।

इस कारण ब्रह्मवादी ही तत्त्ववादी हैं। वे "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुति के अनुसार समस्त प्रपञ्च को ब्रह्मरूप ही देखते हैं। सृष्टि को मिथ्या माननेवाले मायावादी वेद-प्रतिपादित स्वर्गादि लोक को आत्म-प्राप्ति-रूप मानते हैं। उनका कहना है कि "रोचनार्थाफलश्रुतिः" अर्थात् यज्ञादि के द्वारा जो लोक-प्राप्ति का वेद में निर्देश है, वह प्रवृत्त्यर्थ है। कर्म करने से चित्त-शुद्धि, चित्त-शुद्धि से ज्ञान एवं ज्ञान से ही आत्म-प्राप्ति-स्वरूप मोक्ष (जिसे स्वर्ग-सुख भी कहते हैं) प्राप्त होता है। मायावादी इस प्रकार की संगति लगाकर विहित कर्मों की निरर्थकता एवं वेदोक्त लोक-सुख-प्राप्ति की व्यर्थता के दोष का निरास करते हैं।

प्रपञ्च सत्यत्ववादियों के मत में भी कर्म से चित्त-शुद्धि

---

ममतात्मक' संसार मिथ्या है। प्रपञ्च और संसार पृथक्-पृथक् वस्तु हैं। प्रपञ्च को मिथ्या, मायामय, स्वप्नमय बतलानेवाले वाक्यों का अभिप्राय जीव को वैराग्य उत्पन्न कराना है। जीव भगवदिच्छा से अविद्याबद्ध होकर संसार प्राप्त करता है। इत्यादि

और चित्त-शुद्धि से ज्ञान-पूर्वक भगवद्भक्ति प्राप्त होती है। भक्ति से परमात्मा का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार दोनों का कथन यद्यपि परमार्थतः समानार्थक ही है, पर भगवद्गीता के "असत्य-मप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्" इत्यादि श्लोकों से प्रपञ्च की असत्यता का प्रतिपादन आसुर-मतानुयायी और सत्यता का प्रतिपादन ब्रह्मवादानुयायी निर्धारित होता है। अर्जुन ने विश्व-रूप-दर्शन करते हुए भगवद्विग्रह में एकत्रस्थित समस्त जगत् का दिव्य दृष्टि से अवलोकन किया था, फिर ब्रह्म (विराट्) के विग्रहान्तःपाती होने से वह असत्य ( काल्पनिक ) कैसे हो सकता है ?

जो लोग रज्जु और शुक्ति में सर्प एवं रजत की मिथ्या प्रतीति के समान ब्रह्म में जगत् की प्रतीति को मिथ्या-ज्ञान-परि-कल्पित सिद्ध करते हैं, उनका पक्ष पङ्गु है।

जिस प्रकार रज्जु एवं शुक्ति में अन्यत्र दृष्ट सर्प और रजत का ही ज्ञान ( प्रतीति ) हो सकता है, किसी सर्वथा अदृष्ट आकाश-कुसुम या शश-शृङ्ग की प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार विना किसी अन्य जगत् को देखे ब्रह्म में इस दृश्य जगत् का भान नहीं हो सकता। ज्ञान के लिये किसी आश्रय की अवश्य अपेक्षा होती है। अतः मिथ्या ज्ञान के लिये भी किसी तद्रूप यत्किञ्चित् सत्य वस्तु का आश्रय अवश्य अपेक्षित है। बुद्धि भी किसी वस्तु का आश्रय लिए बिना अन्य वस्तु में अन्य की कल्पना नहीं कर सकती। मिथ्या ज्ञान के लिये थोड़ी देर को

किसी सत्य वस्तु की सत्ता स्वीकार कर लेने पर तो आगे चल-कर अनवस्था आ जाती है। अतः वास्तव में श्रुति-बल से ब्रह्म की उपादान कारणता के कारण जगत् ( रूप सृष्टि ) को सत्य नित्य मानकर उसके आविर्भाव तिरोभाव पक्ष को मानना ही सत्य सिद्ध होता है।

उपर्युक्त तत्त्ववाद का संक्षिप्त वर्णन करने के अनन्तर भगवान् ने विष्णुस्वामी से कहा कि सौम्य ! आसुर-सिद्धान्त में ब्रह्म की साकारता का विरोध एवं निराकारता का जो आग्रह है, उसका एक प्रबल हेतु है। वह है देवासुर-संग्राम में मेरे स्वरूप द्वारा देवताओं का पक्षपात। अतः मेरे (ईश्वर के) साकार स्वरूप में असुरों की द्वेष-बुद्धि होना साहजिक है। हिरण्यकशिपु, कंस, वेन, विरोचन, रावण आदि प्रख्यात असुर 'सोहमस्मि' के सिद्धान्त को मानते हैं। अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी ईश्वर की सत्ता उन्हें स्वीकृत नहीं है। इस आसुर-सिद्धान्त—देहात्मवाद—का परिज्ञान छान्दोग्य के ८ अ०, ७ खण्ड से १२ खण्ड तक वर्णित प्रजापति के पास गये हुए इन्द्र-विरोचन के वृत्तान्त से सुस्पष्ट हो जाता है।

भगवदिच्छा से प्रेरित होकर जिन ऋषियों ने आसुर-सिद्धान्त का प्रचार करना चाहा, उन्होंने वैसे ही शास्त्रों का प्रणयन किया, जिससे असुर उन शास्त्रों का आश्रय लेकर भगवद्विमुख हो गये। वे 'अहमेव ब्रह्मास्मि', 'सोहमस्मि' आदि वाक्यों का वास्तविक अर्थ समझे बिना ही देहात्मभाव का प्रचार

करने लगे। गीता में दैवी और आसुरी सृष्टि का पृथक्-पृथक् निर्देश होने से मायावाद और ब्रह्मवाद, ये दो सिद्धान्त चिरकाल से चले आये हैं। जो आसुर-सृष्टि समुद्भूत हैं, वे 'अहमेव ब्रह्म' इसको चरम लक्ष्य मानकर भगवद्विमुखता सम्पादित करते हैं; और जो दैवी-सृष्टि-समुद्भूत हैं, वे 'दासोऽहं कृष्ण तवास्मि' को परम लक्ष्य मानकर भगवदनुग्रह सम्पादित करते हैं। 'माहात्मानस्तु मां पार्थ' इत्यादि श्लोक (गीता अ० ९) इस पक्ष के समर्थक हैं।

इसके अतिरिक्त मायावादी अविद्या-परिच्छिन्न ब्रह्म को ही जीव-संज्ञक मानते हैं। अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर जीव ब्रह्म ही हो जाता है। जब तक अविद्या का आवरण है, तभी तक दोनों में भेद-प्रतीति है। अतः जीव-भाव की निवृत्ति होकर ब्रह्म-भाव की प्राप्ति हो जाना ही उनके सिद्धांत में मोक्ष कहा गया है। अतः मायावादियों के सिद्धांतों में "ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः" माना गया है।

यद्यपि ब्रह्मवादियों के मत में ब्रह्म के सर्वरूप होने पर भी जीव भी ब्रह्मस्वरूप है, तथापि सृष्टि-दशा और मुक्ति-अवस्था में जीव के तिरोहितानन्द और प्राप्तानन्द हो जाने पर भी उसमें अंश और सेवक-भाव की विद्यमानता रहती है। जीव अंश और सेवक, तथा ब्रह्म अंशी और सेव्य स्वरूप है। जीव तिरोहितानन्द और ब्रह्म पूर्णानन्द है। भगवान् के माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह-रूपभक्ति से जीव को मुक्ति

( अन्यथा स्वरूपगुप्तानन्दता, अहंता, ममतादि की निवृत्ति द्वारा स्वरूपावस्थान ) की प्राप्ति होती है। इस सिद्धान्त में नाम ( शब्द ) सृष्टि के समान रूप ( दृश्यमान जगत् )-सृष्टि भी भगवत्कृत होने से सत्य नित्य है । जो पुराणादिक में प्रपञ्च को मिथ्या, मायामय, स्वप्नमय कहा है, वह जीवों को वैराग्योत्पादनार्थ ही कहा है । अतः ब्रह्मरूप होने से यह प्रपञ्च सत्य-नित्य-रूप है। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म के अभेद-बोधक वाक्यों का तात्पर्य द्वैत ज्ञान से होनेवाले जीव के शोक, मोह, भयादि का निवारण है । 'द्वितीया द्वै भयं भवति' 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण रूप से उपस्थित होती हैं। मेरे स्वरूप के विषय में भी अनेक मत हैं । यद्यपि मैं वेदों के द्वारा भी अवर्णित, वाङ्मन से अगोचर हूँ, पर भक्तों के लिये आनन्द-मात्र कर, पाद, मुखादि रूप, गुणत्रयातीत, क्षर से अतीत एवं अक्षर से उत्तम पूर्णपुरुषोत्तम रसमय-स्वरूप हूँ । मेरे भक्त मत्सम, ( सधर्मा ) एवं मदंश होते हैं। मद्भाव की प्राप्ति के अनन्तर जीवों में जीवत्व के असाधारण धर्म परिलक्षित नहीं होते। भक्त और भगवान् में जो भेद दृष्टिगोचर होता है, वह भेद-सहिष्णु अभेद ही है। क्योंकि सेव्य-सेवक-लीला-भेद से दोनों ही मेरे स्वरूप हैं। यही परम भागवत सिद्धान्त है, अब तुम्हारा जो कुछ अन्य प्रयोजन हो, वह मुझसे कहो।

श्रीहरि के सिद्धान्तगर्भित इन वचनों को सुनकर विष्णु-

स्वामी ने प्रह्वीभाव-पूर्वक सप्रेम प्रभु के चरणारविन्दों में प्रणाम किया । तदनन्तर वह बोले—भगवन् ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो आप सपरिकर इसी स्वरूप में यहाँ विराजिये । मैं राजसेवकवत् राजोपचार से सदा आपकी परिचर्या करना चाहता हूँ । अतः कृपया सेवानन्द का लाभ प्रदान कीजिये । भक्तवर्ग सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सारूप्य मुक्ति की कामना न कर चरण-सेवा की ही अभिलाषा करते हैं । जिस प्रकार जलाशय में तल्लीन हो जाने की अपेक्षा उसके किनारे बैठकर जल पीने में अधिक आनन्द प्राप्त होता है, उसी प्रकार आपके स्वरूपान्तःपाती हो जाने की अपेक्षा आपकी चरण-सेवा में अधिक आनन्द अधिगत होता है ।

विष्णुस्वामी के इस वचन को सुनकर भगवान् ने कहा—सौम्य ! तुम्हारा कथन सत्य है । पर काल की मर्यादा के अनुसार जब साधारण देवों का भी कलियुग में साक्षात्कार नहीं होता, तो मेरे साक्षाद्दर्शन की बात ही क्या ? अतः इस स्वरूप में मेरा अवस्थान नितान्त असंभव है । हाँ, इस नगर के विश्वकर्मांश-रूप प्रसिद्ध शिल्पकार के द्वारा मेरी प्रतिमूर्ति सिद्ध करा लो । मेरी कृपा के द्वारा मेरे दर्शन कर वह यथावत् स्वरूप-निर्माण का कार्य कर सकेगा । मेरे आज्ञानुसार मेरी मूर्ति-स्वरूप में सप्रेम यथावत् परिचर्या करने पर मैं उसे ग्रहण करूँगा । उस सेवा द्वारा तुम्हें वैसा ही आनंद संप्राप्त होता रहेगा ।

इस भगवदुक्ति को श्रवण कर विष्णुस्वामी ने प्रार्थना की ।

प्रभो ! ऐसा है, तो शास्त्रोक्त देवालय-प्रतिष्ठादि को कलुषित कर देनेवाले इस कलि में देश, काल, पात्र, द्रव्य, श्रद्धा-संप्रदायादि के अनुसार विहित विधि किस प्रकार संपन्न की जा सकती है ? विधि की न्यूनता से लोगों को भक्ति में विश्वास कैसे जम सकता है ? यह विधि अशास्त्रीय तो नहीं है ?

भगवान् ने कहा, वत्स ! मेरी सर्वव्यापकता के कारण भक्त को मेरी मूर्ति में भी मेरा ही साक्षात्कार होता है। मदर्थ संपादित सेवा-सामग्री, देश-काल-पात्रादि पर मेरे आधिपत्य के कारण कलि का प्रभाव नहीं पड़ता। जिस प्रकार शास्त्रीय मंत्रन्यास तथा प्रतिष्ठा-विधान और देव-ब्राह्मण-वचन से प्रतिमा में देवतोपस्थिति हो जाती है, उसी प्रकार केवल शुद्ध प्रेम से भी जहाँ कहीं भगवत्साक्षात्कार हो सकता है। देवोपस्थिति में एक-मात्र हृदय की सात्त्विक भाव-वृत्ति की प्रधानता होती है। भाव की प्रधानता और प्रबलता के द्वारा ही गोपिकाओं तथा अनेक पशु-पक्षियों ने मेरी प्राप्ति की है। जिसके पुराणादिकों में अनेक दृष्टांत हैं। जब क्रोधाविष्ट हिरण्यकशिपु ने स्तंभ में ही भगवान् की सत्ता देखनी चाही, तो प्रह्लाद की भावुकता ने वहाँ नृसिंहावतार का साक्षात्कार करा दिया। वहाँ कौन-सा शास्त्रीय अनुष्ठान और वैदिक मंत्र-विधान था ? केवल ईश्वर की व्यापकता एवंच भक्त की तन्मय दृष्टि थी। इससे यह भी सिद्ध होता है कि शास्त्रोक्त अनुष्ठानों की अपेक्षा भक्त की शुद्ध-सात्त्विक-प्रेम-भाव-वृत्ति कहीं उच्च कक्षा की होती है।

गीता, भागवत आदि शास्त्रों में मदुक्त मार्ग का ही प्रतिपादन है। निगम-कल्पतरु के गलित फल-स्वरूप श्रीभागवत में निर्णीत मत्कथित भक्ति-मार्ग ही फल-मार्ग-स्वरूप है। अतएव उसकी वैदिकता में किसी प्रकार का संदेह नहीं करना चाहिए। इस भक्ति-सिद्धांत की अशास्त्रीयत्व-कल्पना केवल अज्ञान-विजृंभण है। अतः जीवों को सर्वात्मभावोत्पन्न मद्भक्ति के द्वारा ही शाश्वतिक कल्याण अधिगत हो सकता है। कलिकाल में शास्त्रोक्त अन्य साधन महत्कष्टसाध्य और अपरिज्ञान-नष्ट हो गये हैं। इस समय तो भक्ति ही सर्वसुलभ साधन और पुरुषार्थ अवशिष्ट रह गया है।

इसके अनन्तर भगवदाज्ञानुसार विष्णुस्वामी ने शिल्पकार को बुलाकर भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन कराए, और तदनुरूप एक प्रतिमा निर्मित कराकर भक्ति-भाव से उसकी प्रतिष्ठा की। उस समय भगवान् ने विष्णुस्वामी को अंतिम आदेश दिया कि सौम्य! भक्ति तथा स्वधर्म के आचरण-ज्ञानार्थ गीता, भागवत ये दो ही शास्त्र प्रमाण-स्वरूप और सर्वशास्त्र-सार-रूप हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम मैं ही एक देव हूँ। सद्गुरु द्वारा संप्रदायानुसार आत्मनिवेदन कर 'कृष्ण! तवास्मि' इस पंचाक्षर मंत्र का जप ही मुख्य मंत्र-जप एवमेव भक्ति-पूर्वक यथाशक्य मेरी सेवा करना ही मुख्य कर्तव्य है। जो भक्त संप्रदायानुसार भागवतोक्त-प्रकार से यशोदा, गोपिका तथा उद्धवादि के समान वात्सल्य प्रेम, सख्य, दास्य आदि किसी भी भाव से मेरी शुश्रूषा करेगा, उसकी

सेवा मैं अवश्य अंगीकृत करूँगा। उस भक्त के कल्याण होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं है। वेद-तंत्रोक्त-विधान, ज्ञान-वेदान्त-सांख्य, योगादि से वर्णाश्रमधर्मादि जितने कर्तव्य परिज्ञात होते हैं, वे सब भक्ति के साधन हैं। उनका यथाशक्य आचरण भक्ति उत्पन्न करने में परम सहायक माना गया है। इस भागवत-मार्ग में भक्ति मुक्ति से भी श्रेष्ठ मानी गई है, क्योंकि—"मुक्ति-र्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।" ( भाग० २ स्कं० १० अ० ६ श्लोक ) के अनुसार अपने अवास्तविक रूप का परित्याग कर जीव के स्वरूप में अवस्थान का नाम ही मुक्ति है। अविद्या द्वारा शोक, मोह, भयादि से आविष्ट होकर जीव का अज्ञ, भगवद्विमुख एवं तिरोहितानंद हो जाना तथा अहंता-ममतात्मक संसार में ग्रस्त हो जाना ही अन्यथा-रूप ( सांसारिक दशा ) है। इस दशा को छोड़कर सर्वज्ञता, भगवत्सेवापरायणता तथाच प्रकटानंदता को प्राप्त कर जीव अपने को अंश और सेवक-स्वरूप, भगवान् को अंशी और सेव्य रूप समझकर भजनानन्दानुभवी हो जाय, यही उसकी स्वरूपेण अवस्थिति ( वास्तविक दशा ) है। इसी को मुक्ति कहा गया है। अतः मुक्ति में भी भगवद्भक्ति की प्राप्ति ही उसकी श्रेष्ठता है।

भागवत, गीता, वेद आदि शास्त्रों के रहस्य रूप इस प्रकार के ज्ञानोपदेश को प्रदान कर भगवान् विष्णुस्वामी के समक्ष से अन्तर्हित हो गये।

विष्णुस्वामी भी उसी दिन से भागवतोक्त प्रकार से प्रभु की

सेवा में परायण हो गये । भगवद्भजन-रस का आस्वाद लेते हुए उन्होंने जीवों के अभ्युदय-निःश्रेयस-प्राप्ति के लिये भक्ति-सम्प्रदाय का प्रचार किया । जो जीव विष्णुस्वामी के संप्रदाय में दीक्षित हुए, वे ऐहिकामुष्मिक कल्याण की प्राप्ति करते हुए अनुगृहीत एवं कृतकृत्य होकर श्रीगोपीजनवल्लभ ( भगवत्स्वरूप ) को प्राप्त हुए ।

विष्णुस्वामी ने अपने जीवन-काल में चिरकाल तक भूतल पर भक्ति-मार्ग का प्रचार कर अपनी हार्दिक पूर्वोक्त मनोभिलाषा को पूर्ण किया । भक्ति के द्वारा उनका चरित अलौकिक प्रकाश से देदीप्यमान हो गया । इस प्रकार भक्तिमार्ग का प्राकट्य कर शिष्य-संग्रह द्वारा उसकी व्यवस्था और प्रचार कर विष्णु स्वामी अन्त में वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्थानुसार त्रिदण्डी यति होकर भगवद्धाम को प्राप्त हुए ।

इस प्रकार कलि द्वारा उच्छिन्न भक्ति-संप्रदाय जीवों के कल्याण-प्राप्त्यर्थ श्रीविष्णुस्वामी के द्वारा भूतल पर पुनः प्रतिष्ठित हुआ । उनके अनन्तर क्रमशः इस मार्ग के सात सौ आचार्य तथा विल्वमङ्गल द्वारा भक्ति-मार्ग का प्रचार होता रहा । जिससे दुष्ट समय में भी भगवती-भक्ति-भागीरथी के उद्वेल-शांत स्वच्छ प्रवाह में निमग्न होकर कोटिशः जीवों ने अपना वास्तविक श्रेय संप्राप्त किया ।

विष्णुस्वामि-चरित-नामक द्वितीय प्रकरण समाप्त ।

---

# तृतीय प्रकरण

## ( सर्वसम्प्रदायोत्पत्ति )

श्रीविष्णुस्वामिप्रवर्तित भक्ति-संप्रदाय में चिरकालानन्तर बिल्वमंगल-नामक आचार्य का प्रादुर्भाव हुआ। भारतवर्ष में बिल्वमंगल-नामक तीन व्यक्ति हुए हैं। उनमें एक काशी-निवासी, द्वितीय द्राविडदेशीय और तृतीय उत्कलदेशीय थे। उत्कलदेशस्थ बिल्वमंगल-विरचित अष्टोत्तर-श्लोक-संख्यात्मक एक स्तोत्र उपलब्ध होता है । द्राविडदेशीय बिल्वमंगल विष्णु-स्वामि-संप्रदाय के आचार्य हुए हैं। काशी-निवासी बिल्वमंगल के लिये ऐसी किंवदन्ती है कि वह प्रथम जन्म में माधवानल, द्वितीय जन्म में बिल्हण, तृतीय जन्म में बिल्वमंगल तथा चतुर्थ जन्म में गीतगोविंद-कर्ता प्रसिद्ध कवि जयदेव के रूप में प्रकट हुए थे। माधवानल की कामकन्दला, बिल्हण की शशि-कला तथा बिल्वमंगल की काशीस्थ चिंतामणि-नामक एक वेश्या और जयदेव कवि की पद्मावती-नामक प्रेयसी प्रख्यात था*।

---

* उक्त बिल्वमंगलों के पृथक्-पृथक् निर्देश से उनके विषय में फैला हुआ लोक-भ्रम दूर हो जाता है। इससे चिंतामणि वेश्यावाले बिल्वमंगल और विष्णुस्वामि-संप्रदाय के आचार्य बिल्वमंगल पृथक्-पृथक् व्यक्ति सिद्ध हो जाते हैं।

"भगवान् श्रीकृष्ण ही परमकाष्ठापन्न पूर्णपुरुषोत्तम हैं", इस विषय में काशीस्थ तथा द्राविड़देशीय दोनो बिल्वमंगलों का ऐकमत्य है। बिल्वमंगल के विष्णुस्वामि-संप्रदाय के आचार्य-पद पर अभिषिक्त हो जाने पर उनके भक्ति-प्रचार से जब अधिकारी और अनधिकारी दोनों प्रकार के जीव भगवत्तत्त्वज्ञ होकर भक्ति में सम्मिलित होने लग गये, और प्रवाह-रूप सांसारिक सृष्टि का एक प्रकार से उच्छेद होने लगा, तब भगवान् ने दैवी-आसुरी-सृष्टि के भेद-स्थापनार्थ एक मानसिक योजना की।

इसी समय कैलासाद्रि पर सिद्ध वट-वृक्ष की शीतलच्छाया में रत्नमयी वेदिका पर व्याघ्रचर्मासीन शंकर ने समाधि द्वारा श्री-हरि का साक्षात्कार किया। भगवान् ने अपनी योजना को कार्य-रूप में परिणत करने के लिये शंकर से परामर्श किया।

यह संवाद पद्मपुराण में इस प्रकार वर्णित है—"भगवान् श्रीविष्णु ने कहा—हे रुद्र! महाबाहो! आप भूतल पर प्रकट होकर ऐसे शास्त्रों का प्रणयन और प्रचार कीजिये, जिससे मेरे माहात्म्य का तिरोधान और आपके माहात्म्य की अभिवृद्धि हो। आप ऐसे शास्त्रों का निर्माण कीजिये, जो आपाततः सत्य, किन्तु सारतः असत्य हों। मैं भी अंश-कला-विभूति रूप से प्रकट होकर आपकी प्रतिष्ठा के प्रचार का प्रयत्न और उपदेश करूँगा। इस प्रकार के मोहक शास्त्रों के अध्ययनादि से आसुर जीव मद्विमुख होकर आपको ही सर्वेश्वर समझने लग जायँगे, जिससे शुद्ध दैवी जीव ही भक्ति द्वारा अपना कल्याण सिद्ध कर सकेंगे।

सम्प्रति भक्ति के अनर्गल प्रवाह से अधिकारी और अनधिकारी, सभी जीव उसका उपयोग करने लग गये हैं। अतः विचित्र सृष्टि के प्रवाह-संरक्षणार्थ भूतल पर आपके प्रकट होने की आवश्यकता है।"

इस प्रकार आज्ञा कर भगवान् के अन्तर्हित हो जाने पर गौरी-पति शंकर ने इस रहस्य को ध्यानस्थ करते हुए अपनी समाधि खोली। वे अपने अवतार-धारण के उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

इन्हीं दिनों दाक्षिणात्य प्रदेश में समस्त-शास्त्र-निष्णात एक पूर्ण शिव-भक्त ब्राह्मण रहता था, जो सदा शास्त्रोक्त-धर्मानुष्ठान-तत्पर होकर अयाचित वृत्ति से अपने जीवन का निर्वाह करता था। वृद्ध हो जाने पर भी जब उसको सन्तान-प्राप्ति नहीं हुई, तो भगवान् शंकर को प्रसन्न कर अपनी अभिलाषा फलवती करने का उसने विचार किया। वह ब्राह्मण शिवालय में जाकर भक्तिभाव से देवाधिदेव महादेव की आराधना करने लगा। दृढनिष्ठ ब्राह्मण की श्रद्धा-भक्ति से कुछ दिनों बाद महेश्वर प्रसन्न हुए। उन्होंने गौरी-सहित साक्षात् दर्शन देते हुए वर-याचना का आदेश दिया। ब्राह्मण ने प्रेम-गद्गद होकर प्रह्वीभाव-पूर्वक प्रणाम करते हुए पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा प्रकट की।

पुत्र के अतिरिक्त अन्य वर माँग लेने के लिये भगवान् शंकर ने उस ब्राह्मण से बहुत कुछ कहा, पर ब्राह्मण ने अपना विचार नहीं बदला। अन्ततोगत्वा उसके दृढ आग्रह को देखकर अल्पायु

किन्तु सर्वगुण-सम्पन्न और पूर्णायु, किन्तु महामूर्ख, इन दो प्रकार के पुत्रों में से किसी एक पुत्र के प्राप्त कर लेने की आज्ञा शिवजी ने ब्राह्मण को दी। ब्राह्मण ने घर जाकर अपनी पत्नी से परामर्श कर सर्वगुण-सम्पन्न पुत्र के लिये इच्छा प्रकट की। शंकर ने भगवदाज्ञा को स्मरण कर स्वयं पुत्र-रूप से प्रकट होने का वर प्रदान किया। भगवती पार्वती ने भी ब्राह्मण की पुत्र-वधू के रूप से अवतार लेने का निश्चय कर लिया।

इस घटना के कुछ दिनों बाद उस ब्राह्मण की पत्नी अन्तर्वर्त्नी हुई। नव मास व्यतीत हो जाने पर ब्राह्मण के घर एक तेजस्वी, शुभ-लक्षण-सम्पन्न बालक का प्रादुर्भाव हुआ। शंकर के अनुग्रह द्वारा प्राप्त होने से पिता ने बालक का नाम शंकर ही रक्खा। जब बालक शंकर शुक्ल-पक्ष के शशांक के समान बढ़ता हुआ कुछ समय बाद उपवीत-संस्कार के योग्य हुआ, तब पिता ने शास्त्रोक्त-विधान से उसका उपनयन-संस्कार किया। नैसर्गिक प्रतिभा-सम्पन्न होने के कारण शंकर ने गुरु के सकृन्निगद-मात्र से सांगोपांग समस्त वेद-शास्त्रों का अध्ययन समाप्त कर लिया। वह वाणी के प्रादुर्भाव काल से ही कवि था। उसकी रसना पर भारती लास्य करती थी। शंकर धारावाहिक रूप से शक्ति, शिव, गणपति, विष्णु आदि देवों की श्लोक-बद्ध स्तुति करते रहते थे, जिससे परितुष्ट होकर तत्तद्देवों ने साक्षात् प्रकट होकर उन्हें सकल सिद्धियाँ प्रदान की थीं।

गार्हस्थ्य धर्म के परिपालनार्थ शंकर-स्वरूप शंकर ने सजातीय

किसी योग्य ब्राह्मण की गौरी-स्वरूप कन्या से विधिवत् पाणि-ग्रहण किया, और गार्हस्थ्य धर्म का शास्त्रोक्त आचरण करते हुए त्रिवर्ग ( धर्म, अर्थ, काम ) पुरुषार्थ का लोक में प्रचार कर श्रियैश्वर्य-प्रजेप्सु व्यक्तियों के लिये उपासना-काण्ड का विस्तार किया। त्रैकालिक ज्ञान-पूर्ण अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के प्रभाव से अधिकांश जन-समाज को अपना आज्ञावशवर्ती बनाकर शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की स्थापना द्वारा जैन, बौद्ध आदि नास्तिक मतों का विशेष उन्मूलन किया, जिससे भारत की प्रच्छन्न प्रख्याति पुनः देदीप्यमान हो गई।

बारहवाँ वर्ष लगने पर शंकराचार्य ने अपने पितृचरण से एक दिन निवेदन किया कि इस वर्ष किसी अनिष्ट के होने की आशंका है, अतः मैं काशी-वास करना चाहता हूँ। पुत्र के इस कथन को सुनकर उनके पिता ने सकुटुम्ब काशी चलने का अनुरोध किया। तदनुसार शंकराचार्य अपने जननी, जनक और पत्नी को शिविका में आरूढ कराकर शुभ दिन में काशी के लिये प्रस्थानित हो गए। कुछ दिनों बाद, काशी पहुँच जाने पर, शंकराचार्य कालज्वर से ग्रस्त हो गए। अपने जीवन का अन्तिम समय जानकर उन्होंने ध्यानस्थ होकर ईश्वर-स्तुति प्रारम्भ की। सहसा "निमज्जता नाथ ! भवार्णवेऽन्तश्चिरान्मया पोत इवासि लब्धः" इस पद्यार्ध के उच्चारण के समकाल ही उनका प्राणोत्क्रमण हो गया। इस असामयिक घटना के कारण शंकराचार्य के माता-पिता को मर्मान्तिक कष्ट हुआ, जिससे कातर

होकर वे करुण विलाप करने लगे। अपने जीवन-धन का अवसान देखकर गौरी-स्वरूप शंकर-पत्नी भी विह्वल होकर रुदन करने लगीं। उनके आनन से अतर्कित रूप से शेष पद्यार्ध "मयापि लब्धं भगवन्निदानीमनुत्तमं पात्रमिदं दयायाः" के निःसृत होते ही सहसा शंकराचार्य के प्राणों का प्रत्यागमन हो गया। उपस्थित परिकर को आश्चर्यमय आनन्द-सिन्धु में निमग्न करते हुए, वे अपनी पत्नी को सम्बोधित करके बोले—तुमने मेरे जीवन की प्रार्थना क्यों की ! मैं तो संन्यासाश्रम ग्रहण करनेवाला हूँ। इस प्रकार अपना हार्दिक अभिप्राय अभिव्यक्त कर जननी, जनक और पत्नी को सान्त्वना प्रदान कर शंकराचार्य ने संन्यास-ग्रहण कर लिया।

शास्त्रों में कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहंस ये संन्यास के चार प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं। मदिरोन्मत्त पुरुष के समान जब तक कटितट से विगलित वस्त्र का अपरिज्ञान न हो जाय, तब तक संन्यासाश्रम स्वीकार कर लेने पर भी न तो शिखा-सूत्र का त्याग ही करना चाहिए, और न कषायवस्त्र धारण भी। सम्प्रति उपलब्ध वेद की एकादश शाखाओं में इसी प्रकार के संन्यास का उल्लेख पाया जाता है। शिखा-सूत्र-धारी पुरुष ही वेद का अधिकारी होता है, शिखा-सूत्र त्याग से वेद का भी त्याग हो जाता है। वेद-त्याग से भगवान् नारायण से विमुखता हो जाने के कारण पुरुष पाखण्डी हो जाता है। अतः हंस-परमहंस-दशा-प्राप्ति के पूर्व शिखा-सूत्र का त्याग नहीं करना चाहिये।

इस शास्त्रीय मर्यादा को जानते हुए भी शंकराचार्य ने शिवजी के प्रति आज्ञप्त "जनान्मद्विमुखान् कुरु" इस भगवद्वाक्य को स्मरण कर स्वावतार-प्रयोजन को सफल करने के लिये शिखा-सूत्र-त्याग-पूर्वक संन्यास ग्रहण कर लिया। कषाय वस्त्रधारी होकर वे स्वामी गोविन्द भगवत्पाद से दीक्षा लेकर एक दण्डी संन्यासी हो गये। "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" इस भगवदुक्ति के अनुसार स्वामी शंकराचार्य के सिद्धान्तानुयायी अनेक शिष्य-प्रशिष्य होने लगे। आसुर-सृष्टि के मोहनार्थ वास्तविक श्रुत्यर्थ को प्रच्छन्न कर शंकराचार्य ने उपनिषद्, गीता एवं व्याससूत्र, इस प्रस्थानत्रय पर भाष्य-रचना की। इस ग्रंथ-प्रणयन से जगत् में केवलाद्वैत सिद्धान्त का अतिशय प्रचार हुआ। इस सिद्धान्त को भक्तिमार्ग में मायावाद के नाम से अभिव्यक्त किया गया है, क्योंकि शंकराचार्य ने सृष्टि-रचनार्थ ब्रह्म का मायाश्रयग्रहण करने का प्रतिपादन किया है।

उपनिषदादि का पूर्वापर पर्यालोचन करने पर मायावाद और ब्रह्म( तत्त्व )वाद, दोनों का उल्लेख मिलता है, जिससे दोनों सिद्धान्त अनादि काल से प्रचलित सिद्ध होते हैं। "मायेत्यसुराः" इस कथन से मायावाद आसुर-मत माना जाता है, जिसमें निरीश्वर-सांख्य-योग-वेदान्तवाद का समावेश हो जाता है। "महात्मानस्तु मां पार्थ" इत्यादि गीतोक्त श्लोकों में, "पुरुष एवेदं सर्वं", "नेह नानास्ति किञ्चन", "आत्मैवेदं सर्वं" आदि शतशः श्रुतियों के अर्थानुकूल स्पष्टतया ब्रह्मवाद-सिद्धांत की उपलब्धि होती है।

जब भगवान् शंकर शंकराचार्य-रूप से अवतरित होकर आसुर-सृष्टि के मोहनार्थ मायावाद का प्रचार और संन्यास की प्रधानता की स्थापना कर रहे थे, उस समय गुर्जर-प्रदेश में निर्वाणोन्मुख दीप के समान जैन-धर्म की अभिवृद्धि होकर उसके नाश का बीजांकुरोद्भव हो रहा था।

उस समय गुजरात देश की अणहिल पट्टन ( पाटन )-नामक राजधानी थी, जहाँ अपने विशाल राज्यसूत्र को धारण कर धर्मपूर्वक प्रजा-पालन करता हुआ एक राजा राज्य करता था। उसके परिकर में कुमारपाल-नामक एक क्षत्रिय-कुमार था, जिसकी शिक्षा-दीक्षा के गुरु और अभिभावक हेमसूरि-नामक एक प्रसिद्ध जैनसाधु थे। एकबार कुमारपाल ने स्वप्न में रात्रि के चतुर्थ प्रहर में गगन-मंडल से अखण्ड चन्द्रबिम्ब को पृथ्वीतल पर गिरते देखा। तत्काल निद्रा खुल जाने के कारण उसने यह स्वप्न जैनशाला में जाकर अपने गुरुदेव से निवेदित किया। हेमाचार्य उस समय प्रातःकालीन दैहिक कृत्य कर रहे थे। उन्होंने स्वप्न-वृत्तान्त को सुनते ही राजकुमार को बहुत कुछ भला-बुरा कह डाला, जिसके कारण कुमारपाल उद्विग्न होकर अपने शयन-कक्ष में लौट गया। गुरु द्वारा असंभाव्य भर्त्सना के कारण उसे निद्रा नहीं आई। अन्त में बहुत कुछ विचार कर लेने पर कुमारपाल ने क्रोधाविष्ट हो प्रातःकाल गुरु-हत्या कर डालने का निश्चय कर लिया।

इधर प्रातःकाल होते ही हेमाचार्य ने शिष्य भेजकर कुमारपाल

को अपने पास बुलाया। कुमारपाल के आ जाने पर उसे सान्त्वना प्रदान करते हुए हेमसूरि आचार्य ने कहा कि इस प्रकार के स्वप्न-द्रष्टा को थोड़े ही दिनों में राज्य-प्राप्ति होती है। स्वप्न-दर्शनानन्तर निद्रा आ जाने से उसका फल नहीं होता—यह सोचकर ही मैंने तुम्हें दुर्वाच्य कहे थे। अब राज्य-प्राप्ति हो जाने पर तुम्हें हमारा आज्ञावशंवद होकर जैन-धर्म का प्रचार करना पड़ेगा। स्वप्न-फल को सुनकर कुमारपाल ने गुरु को प्रणाम कर उनके आज्ञा-पालक होने की शपथ ली।

दैव-संयोग से स्वल्पकाल में ही गुर्जराधिपति का देहांत हो गया। उसके स्थान पर अमात्यमण्डल की अभिमंत्रणा से राज-सिंहासन पर कुमारपाल का अभिषेक किया गया। कुमारपाल ने राज्य-सूत्र को हस्तगत करते ही अपनी प्रतिज्ञा एवं आचार्य हेमसूरि के परामर्श के अनुसार समस्त राज्य में वैदिक धर्म का उच्छेद कर जैन-धर्म का प्रचार किया। गुर्जर देश में मीमांसा, शैव, वैष्णव आदि दर्शनशास्त्रों एवं वेद-उपनिषदादि का पठन-पाटन अवरुद्ध कर दिया गया।

इस प्रकार सनातन वैदिक धर्म का गुर्जर देश में मूलोच्छेद देखकर वेद-शास्त्रज्ञ विद्वत्समुदाय देश-परित्याग कर देशान्तरों में चला गया। आसीमान्त गुर्जर देश में जैन-धर्म राज्य-धर्म के रूप में परिणत होकर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराने लगा।

कुमारपाल के गुर्जरदेशाधिपति होने के पूर्व गौड़देशस्थ किसी विद्वत्कुलीन ब्राह्मण के घर सूर्यांशावताररूप देवप्रबोध

और व्यास-शिष्य महर्षि जैमिनि के अंशावतारस्वरूप कुमारिल भट्ट का जन्म हो चुका था। ये दोनों काशी में शास्त्राध्ययन कर रहे थे। जैन-धर्म के द्वारा वैदिक धर्म का ह्रास सुनकर देवप्रबोध एवं कुमारिल भट्ट ने जैन-धर्म का विनाश कर सनातनधर्म के स्थापनार्थ प्रतिज्ञा कर काशी से गुर्जर देश की ओर प्रस्थान कर दिया। कुछ दिनों बाद वे दोनों अणहिलपट्टन ( पाटन )-नामक राजधानी में आ पहुँचे। जैन-धर्म का रहस्य-ज्ञान प्राप्त करने के लिये दोनों ने जैन-वेश ग्रहण कर आचार्य हेमसूरि के समीप शिष्य बनने की प्रार्थना की। हेमसूरि ने देवप्रबोध और कुमारिल भट्ट को एक वर्ष तक परीक्षा कर लेने के बाद जैन-दीक्षा देने की बात कहकर अपने आश्रम में रख लिया। अन्त में गुरु-शुश्रूषा एवं दृढ विश्वास देखकर हेमसूरि ने उन दोनों को जैन-धर्म में दीक्षित कर अपने शास्त्रों का यथावत् अध्ययन कराया।

एक दिन हेमसूरि आचार्य दृढविश्वस्त स्वशिष्य देवप्रबोध और कुमारिल को साथ लेकर अपनी इष्टदेवता पद्मावती देवी का नित्यपूजन करने के लिये किसी एकान्त मन्दिर में गये। वहाँ जाकर उन्होंने देवी की यथोपचार पूजा की, और प्रसाद-स्वरूप मदिरा का यथेच्छ पान किया। थोड़ी-सी मदिरा अपने दोनों पट्ट-शिष्यों को भी वितरण की। देवप्रबोध ने तो गुरु के भय से उसे पी लिया, पर कुमारिल भट्ट ने बातों में टालमटूल कर दी। हेमाचार्य जब मदिरोन्मत्त होकर वेद, देव, ब्राह्मण, यज्ञ और शास्त्रों की

निन्दा करने लगे, तो उसे सुनकर कुमारिल भट्ट के नेत्रों से बहुत कुछ रोकने पर भी दो-चार अश्रुबिंदु भूमि पर गिर पड़े। उसको रोता देख हेमाचार्य को उसके ब्राह्मण होने का निश्चय हो गया। उन्होंने जैन-धर्म के सिद्धान्तानुसार कुमारिल भट्ट को प्राण-दण्ड तो न दिया, पर अपने मकान में बन्दी बनाकर रख दिया। हेमाचार्य ने कुमारिल भट्ट को जहाँ नजर-कैद रक्खा था, वहीं उनका विशाल जैनधर्म-सम्बन्धी पुस्तकालय था। अवसर पाकर भट्टाचार्य जैन-शास्त्रों का गुप्तरीत्या पर्यवलोकन करते थे। एक दिन सहसा तंत्र-शास्त्र का पर्यवेक्षण करते हुए उन्हें यह ज्ञात हो गया कि हेमाचार्य ने अमुक मन्त्र-तन्त्र-प्रयोग के द्वारा राजा कुमारपाल को अपना आज्ञावशवर्ती बना रक्खा है। भट्टाचार्य इस मान्त्रिक अभिचार के प्रतीकार करने की युक्ति सोचने लगे।

हेमाचार्य के द्वारा सुस्थापित जैन-धर्म का जहाँ राज्य में इतना प्राबल्य हो गया था, वहाँ उसके विनाश का बीजांकुरोद्भव भी हो गया था। राजा कुमारपाल की एक रानी कट्टर वैदिक धर्मानुयायिनो थी। वह प्रतिदिन गुप्तरीत्या शालिग्राम-शिला का अर्चन कर भोजन करती थी। राज्य में वैदिक धर्म का सर्वथा उन्मूलन होता देख उसका हृदय उद्विग्न रहता था। वह सर्वदा धर्म की स्थापना के नित्य नये विचार किया करती थी। एक दिन रात्रि को वायु-सेवनार्थ जब वह अन्तः-पुर की अट्टालिका पर भ्रमण कर रही थी, सहसा उसके मुख

से आर्त स्वर में "किं करोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति" यह श्लोकार्ध निकल पड़ा।

इधर अन्तःपुर के सन्निधान में ही भट्टाचार्य हेमसूरि के पुस्तकालय में क़ैद थे। उक्त श्लोकार्ध के श्रुति-गोचर होते ही उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। सहसा दैव-प्रेरणा से उनके मुख से भी "मा विषीद वरारोहे! भट्टाचार्योऽस्मि भूतले" यह श्लोकार्ध विनिःसृत हो गया। इस प्रकार वैदिकधर्म के पुनरुद्धारार्थ चिंतित दो अपरिचित हृदयों का श्लोक-पूर्ति के साथ ही सम्मिलन हो गया। व्याकुल युगल हृदय अप्रत्याशाश्वसित आनन्दानुभव करते हुए एक दूसरे का साक्षात्कार करने की प्रतीक्षा में उत्कण्ठित रहने लगे।

विशाल जैनधर्मावलम्बी राज्य में वैदिक धर्म का बीज अन्तर्हित देखकर कुमारिल अत्यन्त प्रसन्न हुए। अब वह अपने उन्मुक्त होने का उपाय ढूँढ़ने लगे।

एक दिन उचित अवसर पाकर कुमारिल पुस्तकालय के दूसरे खंड से "यदि वेद सत्य हैं, तो मेरी मृत्यु न होगी" यह कहते हुए नीचे कूद पड़े। 'यदि' शब्द से वेद की सत्यता में कुछ-कुछ सन्देह होने के कारण उनके नेत्र में विशेष आघात लगा। वे वहाँ से भागकर एक गुप्त स्थान में छिपकर रहने लगे। कुछ दिनों बाद प्रच्छन्न वेश धारण कर कुमारिल भट्ट नगर में आने-जाने लगे। एक समय राजोद्यान में परिभ्रमण करते हुए वे तुलसी का वृक्ष देखकर बड़े आश्चर्य

में जा पड़े। राजमहिषी से मिलने का इसे ही उचित साधन जानकर भट्टाचार्य वहाँ छिपकर बैठे हुए किसी के आने की प्रतीक्षा करने लगे। सूर्यास्त होने के बाद, कुछ अन्धकार हो जाने पर, एक माली ने आकर कुछ तुलसी-पत्र और पुष्प एकत्रित किये। ज्यों ही वह जाने लगा, भट्टाचार्य ने उठकर उसका हाथ पकड़ लिया। उन्होंने साम-दाम द्वारा तुलसीपत्रादि ले जाने का रहस्य पूछकर इस रहस्य को प्रकट न करने की स्वयं प्रतिज्ञा की और उस माली से भी कराई। एक पत्र में "किं करोमि०" आदि श्लोक तथा अपने परिचय के साथ मिलने के समय की प्रतीक्षा लिखकर भट्टाचार्य ने उस माली को अपनी स्त्री के द्वारा राजमहिषी के पास पत्र पहुँचा देने की बात कहकर बिदा किया।

राजा कुमारपाल की रानी ने पत्र पढ़कर अमुक समय पर जैन साधु के वेश में आकर मिलने की सूचना कुमारिल भट्ट के पास पहुँचा दी। कुमारिल भट्ट भी साधु का वेश धारण कर अन्तःपुर में निर्दिष्ट समय पर जा पहुँचे। जैन साधुओं के अतिरिक्त अन्य पुरुष को अन्तःपुर में जाने का सर्वथा निषेध था। इस कारण कुमारिल भट्ट भी बेधड़क रानी के सम्मुख जा पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही उन्होंने अपना ब्राह्मण-वेश धारण कर लिया। राजमहिषी ने ब्राह्मण को आता देखकर दण्डवत् की और श्रद्धा-भक्ति-भाव से उनकी अर्चना की। भट्टाचार्य का परिचय पाकर रानी के हृदय में बड़ा सन्तोष हुआ। वैदिक धर्म के विषय में यथेष्ट वार्तालाप कर और उसके पुनरुद्धार का मार्ग

निश्चित कर रानी ने भट्टाचार्य को यथेष्ट सहायता प्रदान करने का वचन देकर बिदा किया। कुछ दिनों बाद भट्टाचार्य ने सुवर्ण का एक केयूर बनवाया, जो हेमाचार्य के द्वारा निर्मित केयूर के अनुरूप ही था। भट्टाचार्य ने अपने बनाए हुए केयूर को वैदिक मंत्र से अभिषिक्त किया और ले जाकर रानी को दिया। रानी ने भी स्नानादि परिचर्य्या करते समय नवीन केयूर को राजा के बाहुदंड में धारण कराकर प्राचीन केयूर छिपा लिया।

राजा कुमारपाल को वैदिक-मंत्राभिचार से अतर्कित रूप से काल-ज्वर चढ़ आया। उन्होंने हेमाचार्य को बुलाकर इसका प्रतीकारोपाय पूछा। हेमाचार्य ने कहा—राजन्! इस काल-ज्वर की निवृत्ति किसी ब्राह्मण को सुवर्ण का तुला-पुरुष दान करने से हो सकती है। यदि आपकी इच्छा हो, तो मैं इसका प्रयत्न करूँ। राजा की स्वीकृति से हेमाचार्य ने एक ब्राह्मणकुमार को शास्त्र द्वारा प्रायश्चित्त तथा यज्ञोपवीत-संस्कार कराकर गायत्री मंत्र का उपदेश दिया, और राजा के हस्त से उस ब्राह्मण बालक को उक्त दान दिलवाया। दान के प्रभाव से राजा कुछ समय में विज्वर हो गया। उसी दिन से राजा को वैदिक धर्म और ब्राह्मणों पर श्रद्धा जमने लगी, इधर रानी की मधुरोक्तियों ने भी उसके हृदय पर प्रभाव डाला। राजा के मन में वैदिक धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा हो गई, और वह जैन-धर्म से विमुख रहने लगा।

इस घटना के कुछ काल बाद देवप्रबोधाचार्य ने भी हेमसूरि का आश्रय एवं आश्रम त्याग दिया। देशान्तर में जाकर उन्होंने

शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त द्वारा अपनी शुद्धि करते हुए श्रीनृसिंह भगवान् की आराधना की, जिसके फल-स्वरूप उन्हें अलौकिक चमत्कारिणी शक्ति प्राप्त हो गई। जैन-राज्य में वैदिक धर्म की विजय-पताका फहराने के लिये अपने शिष्यों के साथ देव-प्रबोधाचार्य ने राजधानी में आकर सरस्वती नदी के पुलिन पर अपना अड्डा जमाया। संध्या-वन्दनादि नित्यकर्म का अनुष्ठान कर जब देवप्रबोधाचार्य के शिष्य भोजनार्थ पाक-क्रिया कर रहे थे, उस समय हेमाचार्य के शिष्यों ने आकर अपना आभि-चारिक प्रयोग किया, जिससे पाक-सामग्री सिद्ध नहीं हो पाती थी। इधर कुमारिल भट्ट ने जब अपने सुहृद् देवप्रबोध के आगमन का शुभ संवाद सुना, तो वह मिलने के लिये सरस्वती के तट पर आये। परस्पर सम्मिलन होने पर वार्तालाप के अनन्तर जब हेमाचार्य की इस उद्दण्डता का पता चला, तो उन्होंने भी क्रोधाविष्ट होकर अपना मांत्रिक चमत्कार दिखाना प्रारम्भ कर दिया, जिससे नारियल के वृक्षों से अनेक नारियल गोफन से फेंके हुए ढेलों के समान पड़कर धड़ाधड़ जैनों के सिर फोड़ने लगे। इस अलक्षित पराभवकारी चमत्कार और आपत्ति से त्रस्त होकर जैन साधुओं ने अपने मांत्रिक प्रयोग का उपसंहार कर अपने घर का रास्ता लिया। इस दृश्य ने जैन-धर्म के प्रलय-सूचक धूम्रकेतु-दर्शन का काम किया, जिससे हेमाचार्य को चतुर्दिक् सर्वनाश की आशंका होने लगी।

द्वितीय दिवस देवप्रबोधाचार्य तथा कुमारिल भट्टाचार्य अपने

दल-बल-सहित नित्यकर्मानुष्ठान कर राजसभा में जैन-धर्म का शास्त्रार्थ द्वारा उच्छेद करने जा पहुँचे। ब्राह्मण-वर्ग को आते देख राजा कुमारपाल ने उत्थान देकर प्रणाम-पूर्वक उनका स्वागत-सम्मान किया। जिसे देखकर हेमसूरि आचार्य मन्त्रौषधिरुद्धवीर्य सर्प की भाँति अन्तःप्रज्वलित हो गया। विद्वन्मण्डली के आसन ग्रहण कर लेने पर एक ज्योतिषी ब्राह्मण ने राजा को पञ्चाङ्ग पढ़कर सुनाया। एक स्मार्त पण्डित ने उस दिन अमावास्या होने के कारण दर्श श्राद्ध करने का राजा को निवेदन किया। हेमाचार्य जो अपना प्रभाव स्थापित करने का अवसर खोज ही रहे थे, तत्काल बोल उठे—राजन्, आज अमावास्या नहीं है, किन्तु पूर्णिमा है। हेमाचार्य के इस कथन पर ज्योतिष-शास्त्र को लेकर दोनों पक्षों में गंभीर वाद-विवाद बहुत देर तक होता रहा। अन्त में राजा के समक्ष "प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्" के अनुसार निश्चय हुआ कि सायंकाल किसी एक पक्ष की सत्यता स्वयं प्रमाणित हो जायगी। इसके साथ ही हेमाचार्य ने अपनी शक्ति पर विश्वास कर कूटनीति से काम लेकर परस्पर यह भी प्रतिज्ञा करवाई कि "जिसका कथन असत्य सिद्ध हो, वह अपने शिष्य और शास्त्रों के सहित एक विशाल गर्त में जीवित ही गड़वा दिया जाय।" सायंकाल होते ही उभय पक्ष अपने विद्या-बल और मंत्र-बल के भरोसे राज-प्रासाद पर आ एकत्रित हुए। प्रचण्ड मार्तण्ड के अस्ताचलगामी होते ही हेमाचार्य ने अपनी आराध्य देवता पद्मावती की हार्दिक

स्तुति कर उससे अभय-प्राप्ति की याचना की। स्वल्प समय में उपस्थित जन-समुदाय ने देखा, तो प्राची दिशा के प्राङ्गण में अमावास्या होने पर भी सुन्दर चन्द्रबिम्ब का उदय हो रहा था। अखण्ड चन्द्रमण्डल का दर्शन होते ही जैन साधुओं के मुख-पटल पर जय-सम्मिश्रित आनन्द का और ब्राह्मण पण्डितों के मुख पर पराजय-प्राप्त विषाद का ताण्डव नाट्य होने लग गया। प्रत्यक्ष प्रमाण से वैदिक धर्म का पराजय हो चुका था, विलम्ब था, तो केवल राजाज्ञा का।

उपस्थित जन-समुदाय की दृष्टि में पराजित समझे जाने पर भी देवप्रबोधाचार्य एवं कुमारिल भट्ट को अपने सत्य शास्त्रों का दृढ विश्वास था। वे कब अपना पराजय स्वीकार कर सकते थे। राजा कुमारपाल काल-गणना द्वारा अमावास्या जानते हुए भी प्रत्यक्ष दृष्ट चन्द्रबिम्ब के कारण संशयापन्न-मानस हो रहे थे। इतने में देवप्रबोधाचार्य ने अपने इष्टदेव श्रीनृसिंहजी का स्मरण करते ही इस माया-जाल का समस्त रहस्य हृदयंगत कर लिया। वे गर्व-पूर्ण स्वर में बोल उठे—राजन्! आप इतने भ्रान्त एवं सन्दिग्ध-चित्त क्यों हो रहे हैं? आज तो अमावास्या ही है, पूर्णिमा नहीं। यह जो चन्द्रमण्डल दृष्टि-गोचर हो रहा है, वह केवल हेमाचार्य का माया-जाल है। इनके मंत्राधीन होकर देवी पद्मावती ने अपना कुण्डल आकाश-देश में चंद्र के समान देदीप्यमान कर दिया है। इसका प्रकाश समस्त जगत् में न होकर केवल दस-बारह योजन तक ही

है। शीघ्रगामी अश्वारोहियों को भेजकर इसकी परीक्षा कर लेने पर आपको सत्यासत्य का स्वयं निर्णय हो जायगा।

राजा कुमारपाल ने चतुर्दिक् अपने विश्वासपात्र अश्वसैनिकों को भेजकर इसकी परीक्षा कराई, तो देवप्रबोधाचार्य का कथन अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ। उसी समय कुमारिल भट्ट ने अपनी शक्ति से कुण्डल को प्रत्यावर्तित कर पद्मावती को भूतल पर जन्म ग्रहण करने का शाप दे दिया। कुण्डल के हटते ही चारों ओर अमावास्या विज्ञात होने लगी। इस प्रकार जैन-धर्म के क्षणस्थायी भ्रमोत्पादक तारक-प्रकाश के ध्वस्त होते ही वैदिक-धर्म-विजय के बाल-दिनमणि का उदय हो गया। पारस्परिक निर्णय एवं राजाज्ञा के सम्मुख हेमाचार्य को अपने किये हुए दुष्कृत्य का फल भोगना पड़ा। अपने विशाल ग्रन्थ-समुदाय और शिष्य-परिकर के साथ उन्हें गभीर गर्त में जीवित ही गड़ना पड़ा। जिस समय हेमाचार्य अपने कलेवर का परित्याग कर रहे थे, उस समय राजा तथा समस्त विप्र-वर्ग ने उनके निकट जाकर शास्त्रों के सत्य तत्त्व का प्रश्न किया। हेमसूरि आचार्य ने उच्च स्वर से यह श्लोक पढ़ा —

> हरिर्भागीरथी विप्रः, विप्रा भागीरथी हरिः ;
> भागीरथी हरिर्विप्राः, सारमेकं जगत्त्रये ।

अर्थात् "भगवान् ही भागीरथी और ब्राह्मण-स्वरूप हैं, एवंच ब्राह्मण ही भागीरथी और भगवान् के स्वरूप हैं, तथैव भागीरथी ही भगवान् और ब्राह्मण के स्वरूप से विद्यमान है—इनमें परस्पर

कोई भेद नहीं है। इनका सेवन करना ही जगतीतल में सार-स्वरूप है।" इतना कहकर हेमाचार्य ने अपना प्राण-त्याग कर दिया। उनके साथ ही अनेक जैन-शास्त्र तथा लाखों जैन-साधु उस गर्त में भूमिसात् हो गये। पाटन में वह स्थान आज भी 'लाखा खाड' नाम से प्रसिद्ध है।

इस प्रकार जिस राजोद्यान अणहिलपट्टन में वैदिक धर्म-कल्पतरु का सर्वथा मूलोच्छेद कर दिया गया था, वहीं सुचतुर देवप्रबोधाचार्य और कुमारिल भट्टाचार्य के भगीरथ प्रयत्न से इसका पुनः सुदृढ बीजारोपण किया गया। वैदिक धर्म-कल्प-वृक्ष कुछ समय में राजाश्रय पाकर अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होकर भारतांगण को सुशोभित करने लगा, जो अद्यावधि समस्त विश्व को अपने घ्राण-तर्पण पराग से आप्यायित कर रहा है। गुर्जर देश की राजधानी में वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा और उसके राजधर्म हो जाने के कारण यथावत् वेदादि शास्त्रों का अध्ययना-ध्यापन तथा वर्णाश्रम-धर्म का आचरण होने लगा। निर्वासित विप्र-समुदाय ने पुनः आकर निवास किया। चारों ओर स्थान-स्थान पर वेद-पाठ की ध्वनि और यज्ञों की लोक पावन धूमराशि श्रुति-गोचर और दृष्टिगोचर होने लगी। भट्टाचार्य के कट्टर मीमांसक होने के कारण गुर्जर-प्रान्त में कर्म-काण्ड का विशेष प्रचार हुआ, और चारों ओर पूर्व मीमांसा की तूती बोलने लगी, जिसके कारण वैदिक धर्म की विजय-वैजयन्ती फिर से फहराने लग गई।

भट्टाचार्य के यहाँ—जो स्वयं पूर्ण कर्मठ एवं शास्त्रोक्त गार्हस्थ्य

धर्म का परिपालन करनेवाले थे—उनके द्वारा ही शप्त पद्मावती-स्वरूपा सरस्वती ने बालिका के रूप में अवतार धारण किया, जो आगे चलकर भारती के शुभ नाम से प्रख्यात हुई। अपने पिता द्वारा समस्त शास्त्रों में निष्णात एवं योग्य वय प्राप्त हो जाने पर भारती का भट्टाचार्य के पट्टशिष्य सुरेश्वराचार्य (मंडन मिश्र) के साथ विधिवत् पाणिग्रहण-संस्कार हुआ, और वे दोनों वैदिकधर्मोक्त गार्हस्थ्य धर्म का परिपालन करते हुए काशी में निवास करने लगे।

चिरकाल तक कुमारिल भट्ट ने स्थान-स्थान पर शास्त्रार्थ द्वारा जैन-धर्म को पराजित कर वैदिक धर्म की स्थापना की, और कर्म-काण्ड के प्रचार तथा मीमांसा शास्त्र की रचना द्वारा उसकी जड़ अतिशय सुदृढ और कल्पान्तःस्थायी कर दी। अपने जीवन को धर्म की सेवा में समर्पित कर अन्तिम अवस्था में कुमारिल भट्ट ने गुरुस्वरूप हेमाचार्य के द्रोह एवं पाखण्ड (जैन) धर्म स्वीकार के कारण प्रायश्चित्त करने का संकल्प किया। काण्व सिद्धांत के अनुसार इन दोनों का प्रायश्चित्त केवल तुषाग्नि में जीवित भस्म हो जाना ही था। अतः भट्टाचार्य तीर्थराज प्रयाग में जाकर पुण्यतोया भागीरथी के तट पर विशाल तुष-राशि में अग्नि लगा-कर भस्म होने के लिये पद्मासन बाँधकर बैठ गये। तुषाग्नि के शनैः शनैः प्रदीप्त होने से यद्यपि उन्हें कष्टाधिक्य हो रहा था, पर वह निर्वात-निष्कम्प प्रदीप के समान अविचल हो भगवद्ध्यान-परायण बिराजमान थे।

इसी समय शास्त्रार्थ द्वारा पाखण्ड मत का मूलोच्छेद कर वैदिक धर्म की विजय-दुन्दुभि बजाते हुए, अद्वैत मत-स्थापक, जगद्गुरु, साक्षात् शंकरावतार श्रीशंकराचार्य वेदार्थ पर शास्त्रार्थ करने की इच्छा से कुमारिल भट्ट की खोज करते हुए प्रयाग आ रहे थे। कुमारिल भट्ट के जीवित जल मरने के समाचार सुनकर शंकराचार्य को मर्मान्तिक कष्ट हुआ, तथापि वे शीघ्र ही उनके दर्शनार्थ गंगा-तट पर जा पहुँचे। जिस समय शंकराचार्य कुमारिल भट्ट के समीप पहुँचे, उस समय उनका शरीर अर्धदग्ध हो चुका था। परस्पर कुशल-संप्रश्न आदि के अनन्तर प्रसंग चल जाने पर शंकराचार्य ने अपनी शास्त्रार्थ की इच्छा व्यक्त की, परन्तु शरीर-वैक्लव्य के कारण स्वयं शास्त्रार्थ न कर शंकराचार्य को अपने पट्ट शिष्य, मीमांसक-शिरोमणि, काशीस्थ सुरेश्वराचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने का सत्परामर्श देकर कुमारिल भट्टाचार्य ने प्राण त्याग कर दिया। इस प्रकार सनातन-धर्म का एक सायंकालीन सूर्य अपना समस्त प्रखर तेज नवीन उदीयमान भास्कर को प्रत्यर्पित कर सर्वदा के लिये अस्ताचल-गामी हो गया।

शंकराचार्य प्रयाग से चलकर वाराणसीपुरी में आकर पता लगाते उस सदन पर पहुँचे, जहाँ द्वारस्थ, कनक-पिञ्जरान्तर्गत कीर-कीराङ्गनाएँ "स्वतःप्रमाणं परतःप्रमाणं" का मधुर उच्चारण कर रही थीं।

भवन के भीतर जाकर शंकराचार्य ने कुशल-प्रश्न-वार्ता-

लापादि द्वारा भारती तथा सुरेश्वर मिश्र से परिचय का आदान प्रदान किया। अपने आगमन का प्रयोजन कहकर उन्होंने मिश्रजी का यथायोग्य आतिथ्य स्वीकार किया। योग्य समय में शास्त्रार्थ का उपक्रम किया गया। दोनों विद्वानों ने मध्यस्थ का आसन भारतीदेवी को समर्पित किया। जय और पराजय हो जाने पर यह प्रतिज्ञा की गई कि शंकराचार्य के पराजित हो जाने पर वह गृहस्थ-धर्म का स्वीकार कर लें, अथवा सुरेश्वर ( मण्डन ) मिश्र के पराजित हो जाने पर, वे संन्यास-धर्म स्वीकृत कर लें। इस प्रकार भारतीदेवी के तत्त्वावधान में वेदार्थ के विषय में पूर्व-मीमांसा ( कर्म-काण्ड ) एवं उत्तर-मीमांसा ( ज्ञान-काण्ड ) की प्रधानता-अप्रधानता पर सकल शास्त्र-निष्णात विद्वत्प्रख्यात दोनों महापुरुषों का पण्डित-मण्डली के समक्ष अनेक दिनों तक विचार-विनिमय होता रहा। युक्ति, प्रमाण और शास्त्र-स्वारस्य के कथनोपकथनानन्तर उभय पक्ष के स्व स्व सिद्धान्त स्थापित कर लेने पर अन्तिम दिवस भारती-देवी ने अपना अभिप्राय और शास्त्रार्थ-निर्णय की अभिव्यक्ति करते हुए शंकराचार्य के पक्ष की प्रबल पुष्टि की, और इस प्रकार वेदार्थ के निर्णय में ज्ञान-काण्ड एवं अद्वैतवाद की सिद्धि कर शंकराचार्य का जय स्वीकार कर लिया। सरस्वती-स्वरूपा भारतीदेवी ने इस प्रकार शास्त्रार्थ में कर्म-काण्ड की गौणता सिद्ध कर सुरेश्वर मिश्र को पराजित कराकर कुमारिल भट्ट द्वारा प्रदत्त शाप का प्रतिशोध लिया। सुरेश्वर मिश्र सपत्नीक गार्हस्थ्य धर्म

का परित्याग कर जगद्गुरु शंकराचार्य के संन्यास-धर्म में दीक्षित होकर उनके शिष्य बन गये।

शंकराचार्य ने काशी में "प्रधान-मल्ल-निवर्हण" न्याय से समस्त पण्डित-मण्डली पर शास्त्रार्थ द्वारा विजय प्राप्त कर अपने अद्वैत मत की पताका फहराई। जगद्गुरु शंकराचार्य ने अपने अनेक शिष्य-प्रशिष्यों के सहित तत्कालीन भारतीय विद्या-केन्द्रों में जाकर शास्त्रार्थ द्वारा जैन, बौद्धादि पाखण्ड मतों का उच्छेद एवं अद्वैत सिद्धान्त द्वारा वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा की। अपने अवतार का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये उपनिषद्, गीता तथा व्याससूत्र, इन तीन प्रस्थान-ग्रंथों पर स्वसिद्धान्तानुसार भाष्य-रचना कर वैदिक धर्म की नींव सुदृढ़ की। इस प्रकार उनके दृढ़ त्याग, अलौकिक प्रतिभा, प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा अलौकिक तेज से पुण्य-भूमि भारत में वर्णाश्रम-धर्म का प्रचार होकर वैदिक सनातन-धर्म-साम्राज्य पुनः स्थापित हो गया। शंकराचार्य की अनुपस्थिति में वैदिक धर्म के प्रति भारतीय भावना के विषय में कुछ निष्कर्ष निकाल लेना संदेहास्पद ही था।

जब शंकर स्वामी अपने प्रचण्ड पाण्डित्य की धाक जमाते और दिग्विजय करते हुए दक्षिण-देशस्थ गोकर्ण-क्षेत्र में पहुँचे, तब उन्होंने अपने स्मारक-स्वरूप में भारत की चतुर्दिक् सीमाओं पर चार पीठ स्थापित करने का अपने प्रधान शिष्यचतुष्टय को आदेश दिया। स्वावतार-प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर शंकराचार्य ने अपने चारों शिष्यों को मायावाद-संपृक्त अद्वैत

सिद्धान्त, शिखा-सूत्र-रहित एकदण्ड-संन्यास का उपदेश एवं धर्म-प्रचार की आवश्यकता बतलाकर बिदा किया। चारों शिष्य पृथक्-पृथक् दिशा में जाकर गुरु की आज्ञानुसार कार्य करने को सन्नद्ध हो गये, और प्रातःकाल जाने की तैयारी करने लगे।

उपर्युक्त चारों शिष्यों में मधु-नामक एक शिष्य भी था। गुर्वाज्ञानुसार जब वह प्रदेश-गमनार्थ सन्नद्ध होकर रात्रि को सोया, तब मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचंद्र ने स्वप्न में दर्शन देकर उसे उसके कर्तव्य का बोध कराते हुए कहा—"मधो! तुम तो मेरे सेवक पवन-नंदन हनुमान् के अंशावतार हो, वैष्णव-धर्मान्तर्गत सेव्य-सेवक-स्वरूप भक्ति के प्रचारार्थ भूतल पर तुम्हारा अवतार हुआ है, अतः इस मायावाद का त्याग कर तुम्हें भक्ति और उसके सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहिये।" प्रभु की आज्ञा को शिरोधार्य कर मधु ने भक्ति-मार्ग के प्रचार की प्रतिज्ञा कर शंकराचार्य के शिष्यत्व का परित्याग कर दिया। उन्होंने उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य-रचना कर मध्वाचार्य नाम से प्रख्याति प्राप्त की। मध्वाचार्य ने अपने सम्प्रदाय की गुरुपरंपरा में लोकपितामह ब्रह्माजी को आद्य-प्रवर्तक मानकर अपने सिद्धान्त को द्वैताद्वैत नाम से प्रख्यात किया। भक्ति के महान् प्रचारक होने के कारण वे वैष्णव-धर्म के सम्मान्य आचार्य माने जाने लगे। उनके सम्प्रदाय द्वारा भारत में भक्ति का अधिक प्रचार हुआ।

कलिकाल के तापतप्त निराधार जीवों को भक्ति-मार्ग द्वारा

सन्मार्ग पर प्रवर्तित करने के लिये बिल्वमङ्गल के अनन्तर द्राविड देश में सर्वशास्त्र-तत्त्वज्ञ शेषावतार-स्वरूप श्रीरामानुजाचार्य का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने लोकमाता श्रीलक्ष्मीजी की आराधना कर उनसे तत्त्वोपदेश ग्रहण किया, जिसके कारण उनका भक्ति-सम्प्रदाय श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय के नाम से विश्वविदित हुआ। रामानुजाचार्य ने श्रीलक्ष्मीजी से नारायणीय सिद्धान्त का उपदेश लेकर भारत में श्रीरामचंद्र की भक्ति की पतितपावनी भागीरथी का अविरत प्रवाह चलाया, जिसके कारण वैष्णवाचार्यों में इनकी विशेष गणना हुई। प्रस्थानत्रय पर भाष्य-रचना कर इन्होंने जगत् के समक्ष विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की।

भारत के दक्षिण भाग में पण्ढरपुर-नामक तीर्थ-स्थल है, जहाँ विश्व-विश्रुत श्रीविट्ठलनाथजी का विशाल मंदिर है। उसी नगर में सूर्यांशावताररूप निम्बार्काचार्य का प्राकट्य हुआ। श्रीनिम्बार्काचार्य को प्रभु श्रीविट्ठलनाथजी ने साक्षात् उपदेश देकर भक्ति-प्रचार की आज्ञा प्रदान की। भगवान् का निदेश पाकर उन्होंने सनकादि कुमारों को अपने सम्प्रदाय का आद्य-प्रवर्तक मानकर लोक में कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। प्रस्थान ग्रंथों पर भाष्य-रचना द्वारा उन्होंने भी निम्बार्क-सम्प्रदाय की स्थापना कर वैष्णवाचार्य की पदवी उपलब्ध की।

इसी प्रकार भगवद्वदनानलावतार श्रीमद्वल्लभाचार्य ने (जिनका चरित्र चतुर्थ-प्रकरण में लिखा जायगा) प्राकट्य लेकर

श्रीविष्णुस्वामिसम्प्रदाय को परिष्कृत, विस्तृत एवं सुसम्बद्ध कर निर्गुण भक्ति-मार्ग की स्थापना की। इन्होंने अन्य आचार्यों के समान उपनिषद्, गीता और व्याससूत्रों पर भाष्य-रचना कर अधिक रूप में सर्वसन्देहवारक श्रीभागवत की सुबोधिनी-नामक टीका की, और प्रस्थानचतुष्टय की एकवाक्यता प्रतिपादित कर निर्गुण भगवद्भक्ति का प्रसार किया। इनका सिद्धान्त शुद्धाद्वैत और मार्ग पुष्टि ( अनुग्रह )-मार्ग नाम से प्रख्यात हुआ। इस मार्ग के आद्य-प्रवर्तक देवाधिदेव भगवान् शंकर माने जाते हैं।

इस प्रकार भारत-कानन की पुण्य भूमि को श्रीशंकराचार्य ने जैन, बौद्ध आदि पाखण्ड धर्म-स्वरूप कंटक-वृक्षादि से सर्वथा विहीन कर भक्ति-कल्पतरु के बीजारोपण के अनुरूप परिष्कृत किया। भक्ति की अभिव्यक्ति के लिये—जैसा कि उसके लक्षण ( माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः स्नेहो भक्तिः ) से प्रकट होता है—ज्ञान की सर्व-प्रथम आवश्यकता थी। पाखण्ड धर्म के कुतर्क रूप उपल-कण्टकादि से परिपूर्ण, नास्तिक-वाद से विरस भूमि में भक्ति का सरस अंकुर कहाँ से उद्भूत हो सकता था? इसके अनन्तर चारों आचार्यों ने उसमें भक्ति का बीजारोपण किया, और स्व स्वसंप्रदायों के प्रचार-सलिल-दान द्वारा उसे यथासमय परिरक्षित एवं परिपुष्ट कर अंकुरित, पल्लवित, कुसुमित एवं फलित किया। इस भक्ति-कल्पद्रुम की चतुर्दिक् विस्तृत सहस्रशः शाखाओं पर सुखद विश्राम लेकर

कोटिशः भव-ताप-संतप्त जीव उसके मधुर फलास्वाद से आत्मानंदमग्न होकर विश्व को अपने श्रुति-मधुर कलरव द्वारा परितृप्त करते हैं।

चत्वारस्ते कलौ भाव्याः सम्प्रदायप्रवर्तकाः।

× × ×

भविष्यन्ति प्रसिद्धास्ते ह्युत्कले पुरुषोत्तमात्॥

इत्यादि पद्मपुराणोक्त श्लोकों में इन्हीं चारों सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों के प्राकट्य का उल्लेख किया गया है। कहा है कि—उत्कल ( उड़ीसा ) देश-स्थित श्रीजगन्नाथ प्रभु के अंशावतार से कलियुग में जीवों के उद्धारार्थ चार सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों का प्रादुर्भाव होगा, जो श्रीविष्णुस्वामी, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य तथा श्रीनिम्बार्काचार्य, इन नामों से प्रसिद्ध होकर भक्ति का प्रचार करेंगे। कहा जा चुका है कि श्रीवल्लभाचार्य का संप्रदाय विष्णुस्वामी का ही संप्रदाय है।

यद्यपि पद्मपुराण के उक्त उद्धरण से भक्ति-मार्ग की काल्पनिकता एवं उसकी अनादिता की शंका सिद्ध एवं उद्भूत हो सकती है, तथापि इसका समाधान एक प्रसिद्ध प्रचलित उपाख्यान द्वारा सरल रीति से हो जाता है, जो इस प्रकार है—एक समय मध्वाचार्य अपने संप्रदाय का प्रचार करते हुए तीर्थयात्रार्थ श्रीपुरुषोत्तम-क्षेत्र—जगन्नाथपुरी—में जा पहुँचे। वहाँ भगवान् के दर्शन करते समय उन्हें यह जानकर महान् आश्चर्य हुआ कि ये समस्त भगवत्सेवक किसी भी भक्ति-संप्रदाय के द्वारा दीक्षित

नहीं हैं। जब उन्होंने प्रधान-प्रधान सेवकों को विवाद में परास्त कर स्वसम्प्रदाय की दीक्षा लेने को बाध्य किया, तो उन्होंने स्पष्ट उत्तर दे दिया कि महाराज! श्रीजगन्नाथ प्रभु की आज्ञा प्राप्त हो जाने पर ही हम दीक्षा ग्रहण कर सकते हैं। इस शुष्क उत्तर को श्रवण कर रोषाविष्ट हो मध्वाचार्य जब भगवत्सेवकों को यद्वा तद्वा कहने लगे, तो श्रीजगन्नाथराय को श्रीमुख से स्वयं आज्ञा करनी पड़ी। उन्होंने मध्वाचार्य को सम्बोधित कर कहा कि—सर्वात्मभाव से मेरी परिचर्या करनेवाले यह जन अदीक्षित नहीं माने जा सकते, इन्हें दीक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता भी नहीं है। भगवान् के रहस्य-पूर्ण इस कथन को सुनकर संभ्रान्त होते हुए मध्वाचार्य ने निवेदन किया कि प्रभो! आपके आदेशानन्तर यद्यपि किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, तथापि भवदीय आज्ञा द्वारा प्रवर्तित शास्त्रों की क्या व्यवस्था होगी? "अदीक्षितस्य वामोरु! कृतं सर्वं निरर्थकम्। पशुयोनिमवाप्नोति दीक्षाहीनो मृतो नरः।" इत्यादि वचनों में अदीक्षित जन द्वारा कृत समस्त कर्मों की निरर्थकता एवं मृत्यु के बाद उसके पशु-योनि-प्राप्ति का जो निर्देश उपलब्ध होता है, उसकी क्या संगति हो सकती है? कृपया एतादृश वचनों का अभिप्राय समझाने की कृपा करिए।

मध्वाचार्य के उक्त सन्देह का निराकरण करते हुए श्रीजगन्नाथ प्रभु ने आज्ञा की कि—मेरे सेवक तो मेरे द्वारा दीक्षित

हैं। इन्हें अन्य आचार्य के द्वारा दीक्षा लेने की अब आवश्यकता नहीं है, और ऐसा होने में मेरी इच्छा ही प्रधान कारण है। रही बात शास्त्र-वचनों की, सो उसका रहस्य यह है कि मदीय स्थल के निवासी मेरे सेवकों के अतिरिक्त अन्य स्थलों के मनुष्यों को अवश्य सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये, अन्यथा तत्कृत कर्मों की निरर्थकता एवं अन्त में उनकी असद्गति होती है। इसलिये शास्त्रों का कथन संगत ही है। साक्षात् मेरे सेवकों को तो मेरे प्रमेय-बल से किसी प्रकार की आशंका ही नहीं है। अतः अन्य जीवों के उद्धारार्थ वैष्णव-धर्म की दीक्षा का अन्यत्र प्रचार करना आवश्यक है। मेरे सेवक अन्य आचार्य द्वारा दीक्षित न होकर मेरे द्वारा दीक्षित होते हैं। अन्य देशों में जहाँ इस रूप से मेरा सान्निध्य नहीं है, वहाँ चारों सम्प्रदायों के किसी अन्यतम आचार्य के द्वारा भक्ति की दीक्षा लेना जीवों का स्वाभाविक धर्म है।

श्रीजगन्नाथजी के श्रीमुखोक्त तथा शास्त्रों के वचनों से यह निर्धारित होता है कि—कलिकाल में परम पुरुषार्थ की उपलब्धि सरल रीति से भक्ति द्वारा ही हो सकती है, और भक्ति का अधिकार चारों सम्प्रदायों में से एकतम सम्प्रदाय की दीक्षा लेने पर ही प्राप्त हो सकता है।

प्राचीन विद्वानों के मन्तव्यानुसार चारों सम्प्रदायों के चार उपसम्प्रदाय भी माने गये हैं। श्रीविष्णुस्वामिसम्प्रदाय का चैतन्य, श्रीरामानुज-सम्प्रदाय का नन्द ( रामानन्द ), श्रीमध्व-

सम्प्रदाय का प्रकाश एवं श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय का स्वरूप-नामक उपसम्प्रदाय माना गया है। ये उपसम्प्रदाय यद्यपि चारों प्रधान सम्प्रदायों के अंगभूत हैं, तथापि मूल-आचार्यों की अपेक्षा किन्हीं सिद्धान्तों की विलक्षणता तथा स्वरुच्यनुसार अनुष्ठानों की विभिन्नता से इनकी पृथक् परिगणना की जाती है। इन चारों उपसम्प्रद्रायों में से बलिष्ठ आचार्य की अनुपस्थिति एवं निबन्धादि तत्तत्क्रम-सूचक शास्त्रों की निर्माण-शिथिलता होने से स्वरूप तथा प्रकाश-नामक उपसम्प्रदाय कुछ समय तक चलकर आगे उच्छिन्न हो गए—अब उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। हाँ, चैतन्य तथा रामानन्द, ये दोनों उप-सम्प्रदाय अपने विशेष रूप में जागरूक हैं। उपर्युक्त चार भक्ति-सम्प्रदाय तो अपनी अगाध-अविनाश्य-अविचल शास्त्र-सम्पत्ति तथा आचार्यों की सतत उपस्थिति एवं विशाल शिष्य-संहति से भारतव्यापी हो गये हैं। यद्यपि "रुचीनां वैचित्र्यात्" अनेक शाखा-प्रशाखाएँ उपस्थित हो गई हैं, तथापि मूल-भगवद्भक्ति का सिद्धान्त सर्वत्र सत्ता जमाये हुए है।

इस प्रकार भगवान् विष्णु तथा शंकर के पारस्परिक परामर्शानुसार गीतोक्त दैवी और आसुरी उभय सृष्टि का पृथक्-पृथक् वर्गीकरण हो गया। आसुरी सृष्टि—जो दैवी सृष्टि को आक्रान्त एवं कलुषित करती चली जाती थी—शंकर-स्वरूप शंकराचार्य के सिद्धान्तानुसार मायावाद के मोह-जाल में फँसकर भगवद्विमुख हो गई, और दैवी सृष्टि भक्ति-सम्प्रदायों के प्रचार द्वारा अपनी

स्वरूप-रक्षा कर अपने कर्तव्य-पथ पर सुदृढ़ एवं अभ्रान्त हो गई। विचित्र-प्रवाहमय इस रूप-सृष्टि में जीव स्वाधिकारानुसार अपने कल्याण-मार्ग का अनुसरण करता है। जिनके हृदय-क्षेत्र में अपने उद्धार की भगवत्प्रेरणा होती है, वे अभय भक्ति-मार्ग के पथिक बनकर साधननिष्ठ होकर अन्त में अपने रम्य शाश्वतिक विश्राम-स्थान को प्राप्त कर लेते हैं, और शेष माया के अकाट्य जाल में आबद्ध होकर सांसारिक आवागमन के चक्र में घूमते हुए नानाविध क्लेश भोगते रहते हैं।

"सर्वसम्प्रदायोत्पत्ति-नामक"

तृतीय-प्रकरण

समाप्त

---

# चतुर्थ-प्रकरण

## ( श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरित )

भक्तजन - मानस सुमानस - सरोवर के
मज्जन - विहार - शील राजहंस न्यारे हैं ;
सकल कला के धाम, गुन के निधान, 'मनि'
भगवत्स्वरूप, दीन-दारिद बिदारे हैं।
भक्त-कल्पवृच्छ, अच्छचरित, अलौकिक जो
भक्ति-अब्ज-मारतण्ड, लोक उजियारे हैं ;
सोई करुना तें मम रसना निवास करैं
हृदयाधिदेव जोपै वल्लभ हमारे हैं ॥ १ ॥

पुण्य-भूमि भारत के दक्षिण भाग में तैलंग ( आन्ध्र )-नामक एक प्रान्त पुण्यसलिला गोदावरी के तट पर शोभमान है। इस देश के निवासी विप्रकुल वैदिक धर्मानुष्ठान में सदा तत्पर रहकर एक प्रकार से कलि का पराभव करते आये हैं। जहाँ के विशाल यज्ञ-कुण्डों में नानाविध हविष्य-सामग्री के हवन से समुद्भूत धूमराशि से विकल-दृष्टि होकर कलियुग दूर पलायन कर जाता है। जहाँ आज भी वेदविद् ब्राह्मणों के मुख से यथावत् उद्घोषित चारों वेद प्रभावशाली-स्वरूप में दृष्टिगोचर होते हैं। उसी प्रान्त के 'काँकर वाड' ग्रामवासी, आदर्श विप्र, पण्डित-

प्रवर, प्रसिद्ध सोमयाजी, कंभमपाटिवारु-उपनामक श्रीलक्ष्मण भट्टजी के पुत्ररूप से कुलोदधिसुधाकर भगवद्वदनानलावतार श्रीमद्वल्लभाचार्य का प्रादुर्भाव हुआ था।

श्रीवल्लभाचार्य के प्राकट्य से कलिकाल के भयभीत होकर दूर भाग जाने से जिस प्रकार उच्छिन्न वैदिक धर्म को एक बार पुनरुज्जीवन प्राप्त हो गया था, उसी प्रकार मार्गावरोधक अन्तराय-पर्वत-समूह के ध्वस्त हो जाने से भक्ति-भागीरथी का लोक-पावन प्रवाह भी अविच्छिन्न हो गया था। उनके प्राकट्य के समय आकाशवाणी ने भी इसी कथन की पुष्टि की थी।

अनुमानतः संवत् १५३३-३४ के पूर्व लक्ष्मणभट्टजी सपत्नीक जातीय बन्धु-बान्धवों के साथ तैलङ्ग देश से उत्तर-भारत में आकर काशी में शास्त्राध्ययनाध्यापन, यजन-याजनादि विप्र-वृत्ति द्वारा जीविका-निर्वाह करते हुए निवास करने लगे थे। उन्होंने वंश-परम्परागत सोमयज्ञानुष्ठान द्वारा सौ सोम यज्ञों की यथाविधि पूर्ति की थी। जिसके फल-स्वरूप उनके यहाँ किसी अलौकिक महापुरुष का पुत्र-रूप से प्रकट होना अवश्यम्भावी था। कुछ समय के अनन्तर गर्भाधान-संस्कार हो जाने पर उनकी द्वितीय पत्नी श्रीमती इल्लम्मागारु अन्तर्वत्नी हुईं। यद्यपि उस समय प्रान्त में जहाँ-तहाँ यवनों के अत्याचार के समाचार श्रुतिगोचर होने लगे थे, तो भी लक्ष्मण भट्टजी ने काशी में रह-कर ही शान्ति-पूर्वक छै मास और व्यतीत किये। गर्भिणी की अवस्था में पत्नी को लेकर उपद्रव के समय अन्यत्र जाना यद्यपि

आपत्ति-जनक था, तथापि यवनों के प्रतिदिन निकटातिनिकट होनेवाले आक्रमण के समाचारों ने लक्ष्मण भट्टजी को अन्ततोगत्वा अन्यत्र चले जाने के लिये विवश कर दिया।

सं० १५३५ के प्रारंभ में विश्वनाथपुरी काशी में भी जब यवनों के आक्रमण की पूर्ण आशंका हो गई, तो नगर-निवासी स्वधर्म एवं प्राणों की रक्षा के लिये काशी छोड़-छोड़कर जहाँ-तहाँ भागने लगे। लक्ष्मण भट्टजी भी पत्नी को लेकर जाति-बन्धुओं के साथ स्वदेश जाने को निकल पड़े। इल्लम्मागारु उस समय सात मास का गर्भ धारण किये हुए थीं। लक्ष्मण भट्टजी सपरिकर यात्रा करते हुए तीर्थराज प्रयाग जा पहुँचे। वहाँ स्नान, दानादि तीर्थ-कृत्य कर वे दक्षिण की ओर प्रस्थानित हो गये। दिन में यात्रा और रात्रि में किसी सुरक्षित ग्राम में विश्राम करते हुए कुछ दिनों तक चलते-चलते जब वे मध्यप्रदेशान्तर्गत रायपुर ज़िला के चम्पारण्य-नामक घोर जंगल को पार कर रहे थे, तब सहसा इल्लम्मागारु के उदर में विकट पीडा होने लगी। दैनिक यात्रा के कठोर श्रम से उनके शरीर के अत्यन्त शिथिल हो जाने के कारण वैशाख कृष्ण ११ को शमी-वृक्ष के नीचे सप्तम मासिक गर्भ से अलौकिक तेजोवेष्टित एक मनोहर बालक का प्राकट्य हो गया।

गर्भ की अपरिपक्वावस्था से नवजात बालक को निश्चेष्ट एवं मृत जानकर लक्ष्मण भट्टजी ने उसी शमी-वृक्ष के नीचे पत्तों के ढेर में बड़े दुःख के साथ उसको छिपाकर रख दिया।

निरापद् स्थान में जा पहुँचने की त्वरा तथा अरण्य की भयानकता के कारण बालक की अवस्था पर विशेष विचार किये विना ही वे सब लोग मोह छोड़कर वहाँ से चलकर सायंकाल चोडा-नगरी में जा पहुँचे। रात्रि को भोजनादि के उपरान्त विश्राम करते समय प्रवासी जन-समुदाय के हृदयों में सहसा एक अनिर्वचनीय आनन्द का आविर्भाव होने लगा, उन्हें उस समय ऐसा ज्ञात हुआ कि हम लोगों के सिर स एक बड़ी आपत्ति टल गई है। प्रसन्न-चित्त होकर वार्तालाप करते समय नगर से लौटकर आये हुए कुछ साथियों के मुख से उन्हें यह समाचार मिला कि काशी में उपद्रव की पूर्णरीत्या शान्ति हो जाने से पूर्ववत् व्यवस्था स्थापित हो गई है। इस सम्वाद को सुनकर सब लोगों को बड़ी प्रसन्नता हुई। उनमें से कुछ लोग दक्षिण जाने के विचार पर ही दृढ रहे, और कुछ लोग काशी लौट जाने का विचार करने लगे। वृद्धावस्था में काशी-निवास की विशेष अभिरुचि एवं स्वदेश जाकर पुनः काशी आने के द्रविड प्राणायाम से बचने के लिये लक्ष्मणभट्टजी ने पत्नी से परामर्श कर काशी लौट जाना ही उपयुक्त समझा।

स्वजन सम्बन्धियों के साथ काशी लौटते हुए दूसरे दिन लक्ष्मण भट्टजी चम्पारण्य में उसी स्थल पर पहुँचे, जहाँ वे बालक को छुपाकर रख आये थे। शमी-वृक्ष को देखते ही इल्लम्मागारु का वात्सल्य भाव उमड़ पड़ा, वे शिशु की परिस्थिति जानने को अत्युत्कण्ठित हो उठीं। साथियों से थोड़ी देर ठहर जाने की

प्रार्थना कर अपने पति के साथ जाकर इलम्मागारु ने देखा, तो जाज्वल्यमान पावक-पुञ्ज के मध्यभाग में एक तेजस्वी सुन्दर बालक को अपने पैर के अँगूठे को चूसते और मन्द मुसकान करते हुए पाया। इस असंभव दृश्य को देखकर दम्पति को बड़ा कुतूहल हुआ। उन्होंने ईश्वर का असीम अनुग्रह समझकर बड़े प्रेम-भाव से उस बालक को उठाकर छाती से लगाया। स्वजन सम्बन्धियों से शिशु के जीवित रह जाने एवं भगवान् की विचित्र माया का वर्णन करते हुए लक्ष्मणभट्टजी यात्रा में सावधानी से बालक का पोषण करते हुए कुछ दिनों में काशी जा पहुँचे।

काशी के अमृतपाणि कुशल वैद्यों के उपचार तथा माता-पिता के अनुपम वात्सल्य से पोषित होकर बालक के सर्वाङ्गीण विकास को देखकर सब लोगों का हृदय प्रफुल्लित होता था। यथासमय लक्ष्मणभट्टजी ने जातकर्मादि शास्त्रोक्त-संस्कार कराकर सर्वप्रिय होने से बालक का नाम वल्लभ रक्खा। जनक-जननी के योग्य-निरीक्षण, लालन-पालन तथा धर्मशील व्यक्तियों के सदाचरण से प्रभावित होते रहने से स्वल्पावस्था में ही बालक में अनेक सद्गुण और अलौकिक बुद्धि-चातुर्य का प्रकाश होने लगा। श्रीवल्लभ को ब्रह्मवर्चस्वी बनाने की इच्छा से प्रेरित होकर लक्ष्मणभट्टजी ने पंचम वर्ष उसका यज्ञोपवीत-संस्कार कराया, और स्वयं गायत्री-मंत्र का उपदेश कर उसको वेदाध्ययन में प्रवृत्त कर दिया। कुछ वर्षों में ही वेदाध्ययन से जागृत हुई श्रीवल्लभ की प्रतिभा ने सबको आश्चर्य-निमग्न कर दिया।

स्वल्पवय में ही ब्रह्मचर्य-व्रतधारी अपने बालक की अमानुषी प्रतिभा को देखकर लक्ष्मणभट्टजी एकदिन मन में विचार करने लगे कि क्या इस कलिकाल में भी इसप्रकार की निर्मल, सर्वतोमुखी प्रतिभा कहीं देखने में आ सकती है ? हो न हो, पुत्र-स्वरूप में मेरे घर किसी महापुरुष का अवतार हुआ है ! यह विचार करते हुए लक्ष्मणभट्टजी रात्रि में यज्ञशाला में ही भूमि पर सो गये। रात्रि के चतुर्थ प्रहर में स्वप्न में आनन्द-विग्रह भगवान् पूर्णपुरुषोत्तम ने ब्राह्मण-वेश में प्रकट होकर उनसे कहा कि—"मैं पूर्णपुरुषोत्तम वैश्वानर-स्वरूप हूँ, लोक-कल्याणार्थ स्वेच्छा से तुम्हारे पुत्र रूप में अवतार लेने के कारण मेरे अलौकिक चमत्कार के विषय में तुम्हें आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं है।"

स्वप्न को देखते ही लक्ष्मणभट्टजी की निद्रा खुल गई, वे उठकर अपने नित्यकर्म में लग गये। दिन में पत्नी से रात्रि का वृत्तान्त कहकर उन्होंने बालक की विशेष शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध कर दिया, जिसके कारण कुछ ही समय में शास्त्राभ्यास, कला-कौशल-परिज्ञान तथाच व्यवहार-चातुरी में बालक श्रीवल्लभ की विशेष निपुणता देखकर परिजनों को आश्चर्य और माता-पिता को हर्ष होने लगा। श्रीवल्लभ भी अपने पितृ-चरण तथा तत्तत्-शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डितों के सन्निधान में रहकर शास्त्रों का अध्ययन करने लगे।

यज्ञोपवीत के ४-५ वर्षों के बाद शास्त्राध्ययन-काल में ही श्री-

वल्लभ के पिता लक्ष्मणभट्टजी का गोलोक-वास हो गया। पिता की और्ध्वदैहिक-क्रिया समाप्त कर प्रायः चार-पाँच महीनों में ही श्रीवल्लभ ने अपना अवशिष्ट वेदों का सांगोपांग अध्ययन सम्पूर्ण कर लिया। सर्वतोमुखी विशाल प्रतिभा के कारण गुरुमुखोच्चारण के श्रवण-मात्र से उन्होंने पतञ्जलि के महा-भाष्य और व्यास-जैमिनि-कणाद-कपिल-गौतम-प्रणीत सूत्र-स्वरूप षड्दर्शनों के भाष्यों का आपाद चूड-परिशीलन किया। इसके अनन्तर उपनिषद्-गीता-व्यास-सूत्र-भागवतादि शास्त्रों पर भूतपूर्व आचार्यों का अभिप्राय जानने के लिये श्रीवल्लभ ने विष्णुस्वामी, शंकर, रामानुज, मध्व आदि आचार्यों के निर्णीत श्रुत्यर्थ-प्रति-पादक वेदान्त-भाष्यों का अवलोकन भी किया।

प्रचलित सिद्धान्त-ग्रन्थों के पर्यालोचन के अनन्तर जब सर्वोपरि निष्कर्ष-स्वरूप वास्तविक वेदान्त के रहस्य को तत्त्वज्ञ पण्डितवर्ग के समक्ष स्थापित करने की श्रीवल्लभ को आवश्यकता प्रतीत हुई, तब वे किसी शास्त्रार्थ-सभा की प्रतीक्षा करने लगे। उन दिनों ऐसे शास्त्रार्थ-संघर्ष की संभावना भगवती सरस्वती की विहारस्थली वाराणसी-नगरी में नहीं थी। हाँ, उस समय दक्षिण देश में वेदान्त-विषयक चर्चा की अच्छी चहलपहल सुनाई पड़ रही थी। वहीं जाकर अपने वैदुष्य द्वारा शास्त्रार्थ-निर्णय का सुअवसर उपस्थित जानकर श्रीवल्लभ दाक्षिणात्य प्रदेश के लिये प्रस्थानित हो गये।

दक्षिण प्रान्त के अनेक तीर्थ-स्थलों का पर्यटन करते हुए

कुछ समय बाद श्रीवल्लभ दक्षिण की राजधानी विद्यानगर में जा पहुँचे। उस समय राजा कृष्णदेवराय अपने विद्या-बुद्धि-बल तथा नीति-चातुर्य्य से लोक-प्रसिद्ध होकर समग्र दक्षिण देश का एकछत्र शासन कर रहा था। उन दिनों राजा कृष्णदेव ने वेदादि शास्त्रों के ऐकमत्य द्वारा वास्तविक सिद्धान्त के निर्णयार्थ अखिल भारतवर्षीय महती पण्डित-सभा का आयोजन किया था। सभा के अध्यक्ष-पद पर मध्वाचार्य-सम्प्रदाया-नुयायी, सर्वतन्त्रस्वतंत्र, निखिलशास्त्र-निष्णात व्यासतीर्थ-नामक एक वृद्धसंन्यासी विराजमान थे, जो मायावादिकरीन्द्रों के दर्प-दलनार्थ सिंहविक्रम, एवं कलियुग में अपर कृष्ण द्वैपायन आदि विशेषणों से विश्व-विदित हो रहे थे। मायावादी और तत्त्व( ब्रह्म )वादियों के शास्त्रार्थ के सातवें दिन, शास्त्रसभा का समाचार सुनकर श्रीवल्लभ भी राजसभा के द्वार पर जा पहुँचे।

अलौकिक-प्रभावेष्टित सौम्यमूर्ति किसी विद्वान् के आने का समाचार सुनकर राजा कृष्णदेव ने शीघ्र ही उपस्थित होकर श्रीवल्लभ का यथायोग्य स्वागत-सत्कार करते हुए शास्त्रार्थ-सभा में पधारने की विज्ञप्ति की। श्रीवल्लभ के स्वीकार करने पर कृष्णदेव राजा ने उन्हें बड़े सम्मान के साथ ले जाकर योग्य आसन पर विराजमान किया। श्रीवल्लभ के आसन पर स्थित होने के समकाल ही मायावादियों ने ब्रह्मवादियों के पक्ष का खण्डन करते हुए यद्यपि अपनी जय का उद्घोष कर दिया था,

परन्तु शुद्धाद्वैत मत-स्थापक, सर्वशास्त्र-निष्णात एक समर्थ भावी आचार्य मायावाद की जय और ब्रह्मवाद की पराजय का घोष अपने कानों से कैसे सुन सकता था!

श्रीवल्लभ ने मायावाद-समर्थक पण्डितों को ललकारते हुए कहा—"मेरे साथ शास्त्रार्थ में जय प्राप्त कर लेने पर ही तुम्हारी वास्तविक जय मानी जा सकती है, अतः हम दोनों का शास्त्रार्थ हो जाना परम आवश्यक है।" मायावादी प्रधान पण्डित ने अट्टहास द्वारा इस गर्वोक्ति का उत्तर देते हुए शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया। राजा कृष्णदेव की अनुमति से व्यास-तीर्थ के तत्त्वावधान में दोनों प्रकाण्ड पण्डितों में नये प्रकार से पुनः शास्त्र-चर्चा का प्रारंभ हुआ, जो कितने ही दिनों तक बराबर चलता रहा। अन्ततोगत्वा प्रतिखण्डन और प्रति-मण्डन के उपरान्त श्रीवल्लभ ने किसी प्रकार की क्लिष्ट कल्पना किये बिना ही, प्रस्थान-ग्रंथों की संगति लगाते हुए, विपक्ष की युक्तियों का तिलशः खण्डन किया, और मायावाद की धज्जियाँ उड़ा दीं। इसके अनन्तर उन्होंने शुद्ध ब्रह्माद्वैतवाद का उत्तम प्रकार से पतिपादन कर पण्डित-मण्डली को चकित कर दिया। सभा के अन्तिम निर्णायक व्यासतीर्थ ने भी वेद-शास्त्रों में श्रीवल्लभ की अप्रतिम प्रतिभा से सन्तुष्ट होकर उनके ही पक्ष का दृढ समर्थन किया, जिसके कारण सर्वसमुदाय के समक्ष राजाज्ञा से ब्रह्मवाद की जय और मायावाद की पराजय उद्घोषित कर दी गई।

शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद की विजय से आह्लादित होकर राजा कृष्णदेव ने वर्णनातीत समारंभ तथा अनुपम उत्साह के साथ रजत-सुवर्णादिनिर्मित विविध कलशों में अधिवासित, केशर-मिश्रित तीर्थ-जलों से वेद के अभिषेक-सूक्त द्वारा श्रीवल्लभ का विधिवत् कनकाभिषेक किया, और महती श्रद्धा-भक्ति के साथ पूजन कर उनके चरण-कमलों में प्रचुर हेम-राशि समर्पित की। पण्डित-मण्डल ने जय-घोष के साथ सुमन-वृष्टि करते हुए एक-स्वर से श्रीवल्लभ को आचार्य रूप से स्वीकार किया। श्रीमदाचार्य चक्र-चूडामणि वल्लभाचार्य ने उपायन में प्राप्त हुई उस अतुल हेम-राशि को वादि-प्रतिवादि-उभयपक्ष के ब्राह्मण-वर्ग में वितीर्ण कराकर अपनी उज्ज्वल त्याग-वृत्ति का परिचय दिया। इस निस्पृहता को देखकर उपस्थित समुदाय के हृत्पटल पर वल्लभाचार्य के प्रति अटल श्रद्धा स्थायीरूप से अंकित हो गई। इस अद्वितीय समारंभ के उपरान्त वल्लभाचार्य विदा होकर अन्यत्र जाने का विचार करने लगे।

इस समाचार को सुनकर महानुभाव व्यासतीर्थ ने राजा कृष्णदेव के साथ उपस्थित होकर श्रीवल्लभाचार्य के अगाध पाण्डित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की, और कुछ दिनों बाद होनेवाले राजा के तुला-पुरुष दान के समय आचार्य रूप से उपस्थित होने की उनसे प्रार्थना की। यतिवर्य व्यासतीर्थ तथा नृपति-सार्वभौम कृष्णदेव के अत्यन्त आग्रह के कारण वल्लभाचार्य को अपना प्रस्थान स्थगित करना पड़ा। यथासमय उन्होंने यथाविधि राजा

को तुला-पुरुष का दान कराया। राजा ने भी आचार्य का पूजन कर दान का समस्त द्रव्य उनके चरणों में समर्पित कर दिया। वल्लभाचार्य ने उस द्रव्य के अर्धांश से एक रत्नजटित सुवर्ण-मेखला बनवाकर वहीं के श्रीविट्ठलनाथजी को समर्पित की, और अवशिष्ट द्रव्य के अर्धांश से पैतृक-ऋण चुकाते हुए शेष द्रव्य को यज्ञादि सदनुष्ठान में विनियुक्त कर दिया।

श्रीवल्लभाचार्य की अलौकिक शास्त्र-प्रतिभा और अनन्य त्याग-वृत्ति को देखकर यतिराज व्यासतीर्थ मन में विचारने लगे कि यह मध्व-सम्प्रदाय के अनुसार दीक्षा लेकर यदि संन्यास धारण कर लें, तो मैं इन्हें इस सम्प्रदाय के आचार्य-पद पर स्थापित कर उसकी रक्षा के भार से निश्चिन्त हो जाऊँ। इस विचार के अनुसार व्यासतीर्थ ने अपना अभिप्राय अभिव्यक्त किया, पर वल्लभाचार्य ने आवश्यक वार्तालाप के उपरान्त दूसरे दिन इसका उत्तर देने का वचन देकर उन्हें बिदा कर दिया।

उसी दिन रात्रि को स्वप्न में विष्णुस्वामि-सम्प्रदायानुयायी द्राविड-देशीय बिल्वमंगल ने साक्षात् होकर निवेदित किया कि आप व्यासतीर्थ के शिष्य न होकर विष्णुस्वामि-सम्प्रदाय के रिक्त आचार्य-पद पर विराजमान होइये। मैं दिव्य किशोर मूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण के आदेश से सौ वर्षों से प्रच्छन्न रूप में आपके दर्शनों के लिये ही भूतल पर विचरण कर रहा हूँ। भक्ति-सम्प्रदाय के आदि-संस्थापक श्रीविष्णुस्वामी के अनन्तर अद्यावधि मेरे सहित सात सौ आचार्य हो चुके हैं। भगवान्

श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार देवाधिदेव शंकर ने शंकराचार्य रूप से अवतार लेकर जब दैवी जीवों को भी भक्ति से विमुख कर दिया, तब मैंने विवश होकर प्रभु से प्रार्थना कर उनके समीपवर्ती भृत्यवर्ग में स्थान पाने की अपनी अभिलाषा प्रकट की।

मेरी करुण प्रार्थना पर भगवान् पूर्णपुरुषोत्तम ने कुछ समय बाद अपने मुख-स्वरूप—अग्नि के अवतार—आपके प्रकट होने की बात कहकर आज्ञा दी, कि "वल्लभाचार्य स्वयं भक्ति के द्वारा चार लाख जीवों को मेरी शरण में लावेंगे, और स्वात्मज रूप से बत्तीस लाख जीवों का उद्धार करेंगे। आगे भी उनकी सन्तान-परम्परा द्वारा अनेक जीवों को कल्याण-मार्ग का दर्शन हो सकेगा। अतः वल्लभाचार्य को भक्ति-मार्ग की रक्षा का भार सौंपकर तुम मेरी साक्षात्सेवा में उपस्थित हो सकोगे।" इसलिये मैंने आपसे मध्व-सम्प्रदाय का अनुयायी न बनकर विष्णु-स्वामि-सम्प्रदाय के आचार्य-पद पर आरूढ़ होने का आग्रह किया है।

मेरे इस आग्रह का एक कारण यह भी है कि रामानुज-सम्प्रदाय की सृष्टि पाद्मकल्पीय, सिद्धान्त पद्मपुराणोक्त, आचार्य लक्ष्मी, गरुड़ आदि और उपास्यदेव श्रीलक्ष्मी-नारायण हैं। मध्व-सम्प्रदाय की सृष्टि श्वेतवाराहकल्पीय, सिद्धान्त भारत रामायणोक्त, आचार्य वायु, हनुमान, भीम, सेनादिक और उपास्यदेव श्रीरामचंद्र हैं। इसीप्रकार निम्बार्क-सम्प्रदाय की सृष्टि सौरकल्पीय, सिद्धान्त सूर्यमण्डलस्थ-हिरणमय पुरुष-प्रोक्त और आचार्य एवं उपास्यदेव हिरणमय पुरुष है।

विष्णुस्वामि-सम्प्रदाय की सृष्टि स्वारस्वतकल्पीय, उसका सिद्धान्त वेद-गीता-व्यास सूत्र-भागवत-प्रतिपादित और आचार्य भगवन्मुख-स्वरूप वैश्वानर एवं उपास्यरूप शुकवागमृताब्धीन्दु श्रीगोपीजन-वल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण हैं। उनकी भक्ति के प्रचारार्थ ही अग्नि-स्वरूप आपका प्राकट्य हुआ है। अतः विष्णुस्वामि-सम्प्रदाय का आचार्य बनकर ही भक्ति का प्रकाश करना आपके प्राकट्य का मुख्य उद्देश सिद्ध होता है।

उक्त सम्प्रदायों में नारदीय-पञ्चरात्र वैखानसादि-शास्त्र-प्रतिपादित दीक्षा-पूजादि का प्रचार होने से यद्यपि विष्णुस्वामि-सम्प्रदाय में आत्मनिवेदनात्मक भक्ति की स्थापना की गई है, तथापि वह मर्यादामार्गीय है। अब आपको इस सम्प्रदाय में पुष्टि( अनुग्रह )-मार्गीय आत्मनिवेदन द्वारा प्रेम-स्वरूप निर्गुण भक्ति का प्रकाश करना है। सम्प्रति भक्ति-मार्गानुयायी जन-समाज शांकर सिद्धान्त के प्रचार-बाहुल्य से पथभ्रष्ट हो रहा है, अतः उसे कर्तव्य का बोध कराना आपके द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। आप इसी नगर के राजमन्दिर में विराजमान भगवान् श्रीविट्ठलनाथजी के द्वारा आत्मसमर्पण हो जाने के उपरान्त उच्छिन्न विष्णुस्वामि-संप्रदाय की पुनः प्रतिष्ठा कर सकेंगे।

इस प्रकार बिल्वमंगल के साथ वार्तालाप हो जाने के बाद प्रातःकाल श्रीवल्लभाचार्य ने व्यासतीर्थ से रात्रि का स्वाप्निक वृत्तांत कहते हुए उनके सम्प्रदाय में दीक्षित होने का निषेध कर दिया। इस पर विष्णुस्वामि-सम्प्रदाय में स्वयं व्यासतीर्थ

ने दीक्षित होने का विचार प्रकट किया, पर वल्लभाचार्य ने उसे अनुचित बताकर यतिराज को बिदा किया।

कुछ दिनों के उपरान्त श्रीविट्ठलनाथजी ने वल्लभाचार्य तथा यतिराज व्यासतीर्थ को आत्मसमर्पण कराया, और श्रीवल्लभाचार्य से आज्ञा की कि अब—आपको विष्णुस्वामि-मतानुसार व्यास-सूत्र-गीता-भागवतादि के भाष्यों का पुनरुज्जीवन करना चाहिये। विष्णुस्वामी के सिद्धांतों की जिज्ञासा आप यथावसर कृष्ण-द्वैपायन, उद्धव तथा बिल्वमंगलादि से साक्षात्परिचय द्वारा पूर्ण कर सकेंगे। विशेषतः अग्नि-स्वरूप वाक्पति होने के कारण सर्वसन्देहों को आप स्वयं दूर कर सकेंगे। कलि के दस हजार वर्ष-पर्यन्त—गोवर्धनाचल की भूतल पर स्थिति तक—भक्ति-मार्ग द्वारा जीवों का उद्धार होता रहेगा, इसके अनन्तर लोक स्वयं भक्ति-विमुख हो जायगा। इस प्रकार आज्ञा कर विट्ठलनाथजी मूर्ति-स्वरूप में अन्तर्हित हो गये।

निर्दिष्ट प्रसंग के अनन्तर वल्लभाचार्य विद्यानगर से चलकर कुछ दिनों में प्रयाग जा पहुँचे। वहाँ उनके साथ पुनः सम्मिलन होने पर बिल्वमंगल ने कहा कि आप यहाँ से काशी जाकर उपनिषद्, गीता, व्यास-सूत्रादि के यावत्प्राप्य भाष्यों का पर्या-लोचन कर अपना सिद्धान्त स्थिर कीजिये। सम्प्रति कलि के प्रभाव से मायावादियों के द्वारा श्रुत्यर्थ दूषित कर दिये जाने के कारण ब्रह्मवाद का सार्वत्रिक विरोध होने लगा है। उक्त शास्त्रों के अनुशीलन के बाद बदर्याश्रम में वेदव्यास तथा उद्धव

की कृपा से आपको सर्वज्ञता अधिगत हो जायगी, जिसके फल-स्वरूप आप विष्णुस्वामि-सिद्धान्त के रहस्यज्ञ हो सकेंगे। इस प्रकार वार्तालाप तथा वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों का श्रवण कर बिल्वमंगल कृतार्थ होकर वहाँ से अन्तर्धान हो गये।

श्रीवल्लभाचार्य काशी जाकर उक्त भाष्यों का परिशीलन समाप्त कर कुछ दिनों बाद वेदव्यास से मिलने बदरिकाश्रम पधारे। वहाँ एक दिन साक्षात्कार होन पर व्यासजी ने वल्लभाचार्य से कहा कि अब आपमें भगवान् श्रीकृष्ण का आवेश हो जाने से सर्वज्ञता प्राप्त हो गई है। अब आप मेरे तथा विष्णुस्वामी के मतानुकूल प्रस्थान-ग्रंथों की भाष्य-रचना कर मायावाद का उन्मूलन तथाच शुद्ध अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा कर सकते हैं। इतना कहकर वेदव्यासजी अपने स्थान पर चले गये।

बदरिकाश्रम से चलकर वल्लभाचार्य हरिद्वार की यात्रा करते हुए कुरुक्षेत्र आये। वहाँ से चलकर स्थानेश्वर-नामक नगर में आकर रामानंद-नामक एक यान्त्रिक वैष्णव के घर में उसका आतिथ्य स्वीकार कर रहने लगे। एक दिन शास्त्रीय चर्चा छिड़ जाने पर रामानन्द के प्रश्न का उत्तर श्रीवल्लभाचार्य ने भागवत के एक श्लोक की व्याख्या करते हुए दिया, जिससे समस्त भागवतार्थ के श्रवण करने की प्रबल उत्कण्ठा रामानन्द के हृदय में जागरूक हो उठी। उसके विज्ञप्ति करने पर वल्लभाचार्य ने इस विषय को भगवदिच्छा पर छोड़कर इस चर्चा को स्थगित कर दिया।

एक दिन रामानन्द श्रीवल्लभाचार्य के समक्ष ही विष्णु की चतुर्भुजमूर्ति तथा शालग्राम-शिला का पूजन करने लगा। प्रतिमा की अपेक्षा शालग्राम-शिला में रामानंद की भावनामय विशेष आदर-दृष्टि और तदनुकूल क्रिया देखकर श्रीवल्लभाचार्य ने उससे कहा कि तुम्हें दोनों में समान दृष्टि से पूजा-सेवा करनी चाहिये। परंतु इस कथन पर रामानंद ने कुछ भी ध्यान न देकर प्रत्युत्तर दिया कि प्रतिमा की कृत्रिमता एवं शालग्राम-शिला की नैसर्गिकता के कारण भेद-भाव होना स्वाभाविक ही नहीं, प्रत्युत आवश्यक भी है। रामानंद के इस अंट-संट उत्तर को सुनकर श्रीवल्लभाचार्य ने उसको सम्बोधित करते हुए कहा कि पुराणों के वचनानुसार प्रतिमा भगवद्रूप और शालग्राम-शिला भगवन्मंदिर-स्वरूप मानी जाती है। लोक-व्यवहार में भी श्रीविट्ठलनाथजी तथा श्रीजगन्नाथजी आदि मूर्तियों की साक्षात् भगवद्रूप से ही अर्चना की जाती है। अतः तुम्हारा यह आचरण लोक-शास्त्र, दोनों से विरुद्ध होने से सर्वथा अनुचित है। वल्लभाचार्य के इस उपदेश को सुनकर भी रामानन्द ने उसे अनसुना कर दिया। सायंकाल भी सेवा के समय विवाद होने पर रामानंद ने उस पर उपेक्षा प्रकट कर दी। सेवा के उपरान्त मूर्ति को शयन कराते समय वल्लभाचार्य ने जब यह देखा कि रामानन्द ने उत्तानशायिनी चतुर्भुज मूर्ति के वक्षःस्थल पर शालग्राम-शिला को स्थापित कर झाँपी बंद कर दी है, तो उनके चित्त में बड़ा क्षोभ हुआ। वे प्रातःकाल वहाँ से चले

जाने का विचार करते हुए उठकर अपने आवश्यक कार्य में लग गये।

रात्रि के उपरान्त उषःकाल में स्नानादि-क्रिया से निवृत्त होकर जब अपने लघुभ्राता शंकरमिश्र के साथ रामानंद भगवत्सेवा करने बैठे, तो उन्होंने झाँपी खोलते ही शालग्राम-शिला के टुकड़े-टुकड़े पाये। अप्रत्याशित, उत्पात-सूचक इस घटना से विस्मयापन्न-मानस होकर शंकरमिश्र ने अपने भाई से कहा कि आप जाकर वल्लभाचार्यजी से इसका कारण पूछिए, जहाँ तक मुझे ध्यान है, उन्हीं की आज्ञा के उल्लंघन से यह महान् अनर्थ हुआ है। रामानन्द ने जाकर जब वल्लभाचार्य से इसका कारण पूछा, तो वे विना कुछ उत्तर दिए ही वहाँ से उठकर अपने सेवक के साथ पृथ्वी-परिक्रमा* के लिये चल दिये।

स्थानेश्वर से चलकर श्रीवल्लभाचार्य ने तीर्थाटन रूप से पाँच सौ योजन की प्रथम परिक्रमा छह वर्षों में समाप्त की। और, इसी प्रकार अपने जीवन में क्रमशः और दो परिक्रमाएँ कीं। इन तीनों परिक्रमाओं के द्वारा स्थल-स्थल पर भागवत की सप्ताह-पारायण†, भक्ति(पुष्टि)-मार्ग का प्रचार और शास्त्रार्थ द्वारा शुद्धाद्वैतमत की स्थापना ही उनका उद्देश था।

---

* भूतल पर भारतवर्ष ही पुण्यभूमि है। प्राचीन लेखानुसार इसके समस्त तीर्थ-स्थलों की यात्रा करना ही पृथ्वी-परिक्रमा माना गया है।

† सप्ताहपारायण के स्थल ८४ बैठकों के नाम से प्रख्यात हैं।

वे आवश्यक साधारण वस्त्र धारण कर, पाद-त्राण आदि साधनों से रहित होकर, शालग्राम, गीता, भागवत को लेकर कृष्णदासमेवन नामक अपने सेवक के साथ ही पैदल यात्रा करते थे। आहारार्थ किसी वस्तु को पास में न रखने पर भी मरुस्थल, पार्वत्य प्रदेश तथा गहन अरण्यों में भी उन्हें प्रभु-इच्छा से आवश्यक भोजन-सामग्री प्रतिदिन उपलब्ध हो जाती थी। वह निःस्पृह, निर्भय तथा भगवद्भक्तिपरायण होकर स्थान-स्थान पर जीवों को शाश्वत सुख के साधनरूप भक्ति का उपदेश देते हुए यात्रा करते थे।

जिस दिन स्थानेश्वर से चले, उस दिन बहुत श्रम करने पर भी कृष्णदासमेवन को प्रभु के नैवेद्यार्थ किसी प्रकार की सामग्री हस्तगत नहीं हुई। प्रभु-सेवा में इस प्रकार के श्रम का कारण विचारने पर वल्लभाचार्य को स्मरण आया कि उन्होंने रामानंद को भागवत सुनाने की प्रभु-प्रेरणा पर कुछ भी ध्यान न देकर रोष-वश वहाँ से प्रस्थान कर दिया था। इस विषय का मानसिक पश्चात्ताप होने पर वल्लभाचार्य को रात्रि को स्वप्न में भगवान् कृष्ण और वेदव्यास के दर्शन हुए, और साथ ही व्यासजी के प्रति भगवान् को इस प्रकार कहते सुना कि आपके द्वारा प्रणीत भागवत के गूढार्थ प्रकट करने के लिये ही मैंने मुखस्वरूप वल्लभाचार्य का प्राकट्य किया है, परन्तु वे उसको वैष्णवों के समक्ष प्रकट नहीं करते हैं।

प्रभु के इस मन्तव्य को व्यक्त करते हुए व्यासजी ने वल्लभा-

चार्य से कहा कि भागवतार्थ का प्रकाश करना ही आपके लोक-प्राकट्य का हेतु है, अतः जहाँ-तहाँ वैष्णवों को भागवत-श्रवण कराना आपका कर्तव्य है।

उक्त आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए वल्लभाचार्य ने भगवान् से निवेदित किया कि मेरे प्रामाणिक कथन पर ध्यान न देने के कारण रामानंद की वैष्णवता में मुझे संदेह हो गया था, अतः मैंने भागवत के श्रवण का उसे अधिकारी नहीं समझा। इस पर भगवान् कृष्ण ने कहा कि रामानन्द पूर्वजन्म में अर्जुन के आगे लड़कर मरा हुआ एक वीर पुरुष है, जो पूर्वकृत किसी भारी पाप के फल-स्वरूप सहस्र-जन्म धारण करने के चक्र में पड़ा हुआ है, इसी कारण आपके कथन पर उसने उपेक्षा व्यक्त की थी। अब भी यदि उसे आपके द्वारा भागवतार्थ का उपदेश नहीं दिया जायगा, तो वह आगे चलकर अधिकतया बहिर्मुख हो जायगा।

इस वृत्तान्त को सुनकर श्रीवल्लभाचार्य की प्रार्थना करने पर रामानन्द को इसी जन्म में मुक्ति प्राप्त हो जाने की कृपा प्रकट करते हुए भगवान् ने अपने स्वरूप को अन्तर्हित कर लिया।

दूसरे दिन वल्लभाचार्य ने भगवदाज्ञानुसार स्थानेश्वर जाकर भक्ति-मार्ग की दीक्षा देकर रामानन्द को भागवतार्थ सुनाया। रामानन्द ने भी बड़े भक्ति-भाव से सात दिन तक उनके मुख से उसका श्रवण किया। उसका छोटा भाई शंकरमिश्र तो सर्वात्म-भाव से वल्लभाचार्य का चरण-रज-किंकर हो गया। यही शंकर-मिश्र आगे चलकर वार्ता-प्रसंग में प्रभुदास नाम से प्रख्यात हुए।

स्थानेश्वर से बिदा होकर वल्लभाचार्य जब काशी आने लगे तब मार्ग में उन्हें एक दिन गार्हस्थ्यधर्म स्वीकार करने की प्रभु-प्रेरणा हुई, पर उन्होंने अपनी अनिच्छा के कारण उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। देश में उन दिनों जहाँ-तहाँ आततायी चोर-डाकुओं के द्वारा यात्रियों को गला घोंटकर मार डालने और उनका सर्वस्व लूट लेने का उपद्रव उठ खड़ा हुआ था। इस बार के यात्रा-प्रसंग में इस भयानक परिस्थिति को वल्लभाचार्य ने एक भगवदिच्छा ही समझा और उसे उपेक्षा-दृष्टि से देखा था।

एक दिन यात्रा के विश्रान्ति-स्थान में जब रात्रि को वे शयन कर रहे थे, स्वप्न में भगवान् कृष्ण ने प्रकट होकर पुनः उन्हें विवाह करने की आज्ञा दी। विषय-बन्धन में न पड़कर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य और भक्ति द्वारा ही कृतार्थता प्राप्त करने की विज्ञप्ति करने पर वल्लभाचार्य को भगवान् श्रीकृष्ण ने पुनः आदेश दिया कि यद्यपि तुम्हारा कथन उपयुक्त है, तथापि मैं तुम्हारे घर में श्रीगोपीनाथ तथा श्रीविट्ठल-नाथ नाम से पुत्ररूप में प्रकट होकर आगे भी भक्ति का विस्तार करना चाहता हूँ, इसलिये तुम्हें विवाह करने की आवश्यकता है।

इस आज्ञा के कारण वल्लभाचार्य ने काशी जाकर स्वजातीय आत्रेय गोत्री पं० देवभट्टजी की कन्या का शुभ समय में पाणिग्रहण करते हुए गार्हस्थ्यधर्म के साथ अग्निहोत्र का भी ग्रहण किया, और इसप्रकार यथासमय पुण्य-स्थलों में नानाविध यज्ञानुष्ठानों से यज्ञ-पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण का यजन करते हुए लोक में गृहस्थ-धर्म का आदर्श स्थापित किया।

विवाह हो जाने के कुछ समय बाद श्रीवल्लभाचार्य ने मायावाद के उन्मूलन तथा अद्वैतवाद के प्रतिरोपण का आयोजन किया। काशी नगरी—जिसे सरस्वती-मन्दिर कहते हैं—में उस समय मायावाद-सिद्धान्त का विशेष प्राबल्य था अतः। उन्होंने इसके खंडन और शुद्धाद्वैतवाद के मण्डन के लिये अनेक श्लोकों की रचना की। अपने सिद्धान्त की सत्यता एवं दृढता पर काशीपति भगवान् विश्वेश्वर को साक्षी बनाकर वल्लभाचार्य ने वे श्लोक लिखकर उनके मन्दिर के प्रधान द्वार पर लगवा दिये। यह श्लोक-रचना क्या थी, मायावादियों को शास्त्रार्थ के लिये डिण्डिमघोष द्वारा स्पष्ट आह्वान और सन्मार्ग-रक्षक पण्डितों से ब्रह्मवाद की रक्षा करने का आग्रह-पत्र था। यही रचना आगे चलकर 'पत्रावलम्बन' नाम से प्रसिद्ध हो गई।

'पत्रावलम्बन' को पढ़ते ही काशी के विद्वानों में एक प्रकार की खलबली मच गई। मायावादियों को तो हडकम्प-सा हो गया। मायावाद को ही वास्तविक वेदार्थ समझ बैठनेवाले पण्डित-संन्यासियों ने एकत्रित होकर वल्लभाचार्य से शास्त्रार्थ करने का प्रबन्ध किया। शास्त्रार्थ-सभा में उपस्थित होकर उन्होंने वल्लभाचार्य से प्रश्न किया कि आपके निराकरणीय और स्थापनीय मायावाद और ब्रह्मवाद के क्या लक्षण हैं? वल्लभाचार्य ने इसके उत्तर में कहा कि आप ही प्रतिपादित कीजिए कि आपके सिद्धान्त में ब्रह्म, प्रपञ्च एवं जीव को किंलक्षणक माना गया है? और श्रुति क्या कहती है? इस प्रत्युत्तर को सुनकर उपस्थित

विद्वन्मण्डली ने कहा कि यह तो स्पष्ट ही है कि ब्रह्म निर्धर्मक, निराकार, प्रपञ्च मिथ्या-स्वरूप, मायाकृत, और जीव वास्तव में चैतन्यरूप व्यापक ब्रह्म ही है। संक्षेपतः इसी वेदार्थ-सिद्धान्त का जगद्गुरु शंकराचार्य ने स्थापन किया है। अतः एतदतिरिक्त अन्य सब वाद अवैदिक सिद्ध हो जाते हैं, जिनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है।

उक्त पक्ष को सुनकर वल्लभाचार्य ने कहा कि जिस पक्ष का आप प्रतिपादन कर रहे हो, वही अवैदिक मायावाद है। अत्यन्त गूढ होने से वेदार्थ सहज में ज्ञानगम्य नहीं होता, उसके रहस्य-परिज्ञानार्थ सन्देह-निवारक गीता, व्याससूत्र तथा भागवत का अनुशीलन परमावश्यक है। उत्तरोत्तर सर्वसन्देह-निर्णायक उक्त प्रस्थान-चतुष्टय की एकवाक्यता से संक्षेप में यही प्रतिफलित होता है कि ब्रह्म विरुद्ध-धर्माश्रय, प्रपञ्च—भगवत्कृत होने से सत्य, और संसार—अहन्ताममतात्मक—अविद्या-कृत होने से मिथ्या एवं जीव—भगवदंश-अणुस्वरूप विसर्पिगुण-चैतन्य है। अतः यही सिद्धान्त वेद-शास्त्र-पुराण-प्रतिपादित है। अन्य सब वाद स्वबुद्धि-परिकल्पित हैं।

इस प्रकार कितने ही दिनों तक कोटि-प्रकोटि एवं शास्त्र-वचनों के अनुसार श्रीवल्लभाचार्य के वैदुष्य के आगे स्वपक्ष-स्थापन में असमर्थ कुछ पण्डितों ने ब्रह्मवाद की स्थापना होते देख क्रोधाविष्ट होकर कहा कि—जगद्गुरु शंकराचार्य की सिद्धान्त-परम्परा में अप्रामाणिकता एवं अयथार्थता का सन्देह करना

केवल अज्ञान-विजृंभण है। उनका सिद्धान्त ही वैदिक है। इस मिथ्यावाद का खण्डन करते हुए वल्लभाचार्य ने कहा कि पद्मपुराणादि के वचनों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि "भगवान् पूर्णपुरुषोत्तम की आज्ञा से शंकर ने शंकराचार्यरूप से अवतार लेकर आसुर-सृष्टि के मोहनार्थ ही मायावाद-सिद्धान्त की स्थापना की है। अपने अवतार-प्रयोजन को लक्ष्य कर बनाये हुए शंकराचार्य के सिद्धान्त वास्तविक वेदार्थ से कोसों दूर हैं। जिस प्रकार गीता में समस्त उपनिषदों का सार मथकर रक्खा गया है, उसी प्रकार व्यास ने गीता का रहस्य उत्तरमीमांसा में उद्घाटित कर दिया है। भगवान् वेदव्यास की समाधि-भाषा—भागवत—से तो समस्त वेदार्थ करामलकवत् हो जाता है। भगवान् के बुद्धावतार धारण करने के अनन्तर तद्वशवशवर्ती देवगण ने भी ब्राह्मण-कुल में जन्म लेकर अनेक मोहक शास्त्रों का प्रणयन किया है। यह पुराणों से सिद्ध होता है। उन्हीं मोहक शास्त्रों के वितण्डावाद के वाग्जाल में उलझकर आप लोग वास्तविक वैदिक मार्ग से विमुख हो गये हो। अतः फिर से प्रस्थान-चतुष्टय का परिशीलन कर आपको वेदार्थ समझने का प्रयत्न करना चाहिये।"

इस आक्षेप को सुनते ही कुछ पण्डित तमतमाकर वल्लभाचार्य से कहने लगे कि हम सब तो पूर्वाचार्य-प्रदर्शित सिद्धान्तों के ही अनुगामी हैं, आपने ही उसका खण्डन कर पाखण्ड-मत की स्थापना का बाल-चापल्य किया है।

उद्धत संन्यासियों की उक्ति पर वल्लभाचार्य ने मन्द हास्य-पूर्वक कहा कि पाखण्ड-धर्म के लक्षण तो आप लोगों में स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं, जो वेद-विरुद्ध शिखा-सूत्र का त्याग किये बैठे हैं। शिखा-सूत्र-परित्याग-विधायक कुछ मनमाने वाक्य बोलने पर वल्लभाचार्य ने संन्यासियों से कहा कि सम्प्रति उपलब्ध वेद की एकादश शाखाओं का प्रमाण दीजिये, उच्छिन्न शाखाओं के वाक्य प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। ऐसी दशा में उपलब्ध वेद-शाखाओं के वचनानुसार आपको वास्तविक संन्यास-धारण कर पाखण्ड का परित्याग कर देना उचित है। वल्लभाचार्य के उक्त कथन का प्रत्युत्तर न दे सकने के कारण अपनी पराजय का अनुभव करता हुआ आगत संन्यासि-समुदाय वहाँ से उठकर चला गया।

एकबार उपेन्द्राश्रम-नामक सर्व-श्रेष्ठ विद्वान् संन्यासी ने प्रस्तुत विषय पर शास्त्रार्थ करने का विचार किया, तो मध्यस्थ पण्डितों ने उनको यह कहकर रोक दिया कि वल्लभाचार्य कोई दैवी अवतार हैं, उनकी शास्त्र-प्रतिभा अलोक-सामान्य और अगाध है, अतः उनसे पराजित होकर आपको अपनी संचित प्रतिष्ठा खोनी नहीं चाहिये। इस प्रकार काशी में पृथक्-पृथक् पण्डितों के साथ कितने ही दिनों तक शास्त्रार्थ चलते रहने पर भी मायावाद की सिद्धि और शुद्ध ब्रह्मवाद का खण्डन नहीं हो सका।

मायावाद की छीछालेदर से असन्तुष्ट होकर किसी दुष्ट व्यक्ति

ने एकबार वल्लभाचार्य को अभिचार-प्रयोग द्वारा कष्ट पहुँचाना चाहा, पर वह कृतकार्य न हो सका। एकदिन काशीपति विश्वेश्वर की इस प्रकार प्रेरणा होने पर कि "यहाँ भगवदिच्छा से मायावाद का ही प्राबल्य रहेगा, आप अन्यत्र जाकर सर्वोपनिषदुक्त परमतत्त्व श्रीकृष्ण की भक्ति का प्रसार कीजिये" वे काशी छोड़कर समीपस्थ पावनाश्रम में चरणाट-नामक नगर में आकर निवास करने लगे।

एकदिन गंगा-स्नान के समय वल्लभाचार्य के सम्मुख प्रकट होकर शंकराचार्य के यह कहने पर कि "भगवत्प्रेरणा से ही स्थापित किये हुए मेरे मायावाद-सिद्धान्त का आप क्यों खण्डन करते हैं?" भगवान् श्रीकृष्ण ने दर्शन देते हुए शंकराचार्य से कहा कि तुम्हारे अवतार का प्रयोजन पूर्णतया सफल हो गया है, अब तो दैवी जीवों के भ्रम-निवारणार्थ इनके द्वारा शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद की स्थापना होगी, अतः मायावाद के लिये तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। इसके बाद भगवान् वल्लभाचार्य से यह कहकर कि आप मेरे नित्यलीलास्थल गोकुल में निवास कर मेरी सेवा का आदर्श स्थापित कीजिये—शंकराचार्य के साथ ही अन्तर्हित हो गये।

कुछ समय बाद वल्लभाचार्य चरणाट से चलकर व्रजमण्डल की यात्रा करते हुए वृन्दावन आये, और वहाँ एक मन्दिर बनवाकर सपरिग्रह सेवा करते हुए रहने लगे। उन्हीं दिनों काश्मीर के केशव भट्ट-नामक एक विद्वान् भगवद्भजन करते

हुए वहाँ निवास करते थे, उन्होंने शंकर के अनुग्रह से भक्ति-मार्ग का रहस्य समझा था। परस्पर परिचय होने पर वल्लभाचार्य के साथ उनकी मैत्री हो गई। एक दिन भागवत के एक श्लोक की व्याख्या सुनकर केशवभट्ट ने सप्ताहपारायण द्वारा समस्त भागवतार्थ के सुनाने की वल्लभाचार्य से प्रार्थना की। यथासमय यथाविधि वल्लभाचार्य के मुख से भागवत-प्रवचन सुनकर समस्त श्रोतृ-समुदाय कृतकृत्य हो गया, परन्तु केशवभट्ट की समझ में कुछ भी नहीं आया। उन्होंने वल्लभाचार्य से विज्ञप्ति की कि आपके द्वारा श्रुत भागवत का अर्थ मेरे हृदयारूढ नहीं हुआ, सो तो ठीक, परन्तु मेरा पूर्वावधारित भावार्थ भी क्यों विस्मृत हो गया है!

इस वृत्तान्त को सुनते ही वल्लभाचार्य ने उनसे कहा कि वक्ता के समान-आसन पर आसीन होकर कथा सुनने से ऐसा हुआ है। श्रोता को अत्यन्त विनीत भाव और श्रद्धा से कथा का श्रवण करना चहिये। मैंने वृत्यर्थ भागवत का उपयोग नहीं किया है, अतः सुबोधिनी-स्वरूप भागवतार्थ के श्रवण और अवधारण के लिये अत्यन्त श्रद्धा और दीनता का होना परमावश्यक है। तुम्हारे शिष्य माधवभट्ट की श्रद्धा-भक्ति वास्तव में श्लाघ्य है, वही मेरी कथा का मुख्य श्रोता था, उसे आप मेरे पास रहने के लिये नियुक्त कर दीजिये।

इस आज्ञा को स्वीकार कर केशवभट्ट ने माधवभट्ट को अपने अन्य तीन शिष्यों के साथ में वल्लभाचार्य की सेवा में नियुक्त कर दिया। उन्होंने उसे आत्मनिवेदन (ब्रह्म-सम्बन्ध) कराकर

सुबोधिनी के लेखन का कार्य सौंप दिया। वृन्दावन में ही शास्त्रार्थ में पराजित होकर कान्यकुब्ज नारायण मिश्र ने भी वल्लभाचार्य का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था, अतः वह भी उन्हीं के पास रहने लगे।

इस प्रकार अनेक स्थलों पर श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भागवत-प्रवचन, शुद्धाद्वैतमत-स्थापन तथा भक्ति (पुष्टि) की दिव्य सुरसरित् के पुण्य प्रवाह द्वारा समस्त आर्यावर्त को आप्लावित कर दिया। जिसके लोक-पावन दर्शन, सुखद आस्वादन तथा त्रिविध-सन्तापहारक अभिषेक से कृतार्थ होकर श्रद्धालु समस्त जातीय-जन उनके मार्ग की दीक्षा प्राप्त कर अपने जीवन को सफल करने लगे। उन असंख्यात वैष्णवों के निर्मल चरित्र और गुणावली का कथन वास्तव में अशक्य है।

अपने जीवन में वल्लभाचार्य को अनेक बार भगवत्साक्षात्कार और उनकी लीलाओं के दर्शन समय-समय पर होते रहते थे। एक दिन सेवा से निवृत्त होकर जब वल्लभाचार्य गोकुल में अपने सदन के बाह्य चत्वर पर विराजमान थे, तब सहसा उन्हें कलिन्द-नन्दिनी के तट पर नन्दनन्दन भगवान् कृष्ण के दर्शन हुए। करपल्लव द्वारा समीप आने की सूचना पाकर वल्लभाचार्य उनके पीछे-पीछे गोवर्धन गिरिराज तक चले गये। वहाँ शिखर पर श्रीगोवर्धननाथजी के मन्दिर के निकट पहुँच जाने पर उनसे भगवान् कृष्ण ने कहा कि कलियुग में जब तक पवित्र-सलिला भागीरथी का प्रवाह और गोवर्धनाचल की स्थिति है,

तब तक मैं पुष्टिमार्गीय वैष्णवों की सेवा श्रीनाथजी के रूप से स्थित होकर ग्रहण करूँगा। सम्प्रति यही गिरिराज मेरा विहारस्थल है। मैं सर्वदा यहाँ विद्यमान रहकर आपके द्वारा जीवों का उद्धार करूँगा। भगवान् कृष्ण इतना कहकर श्रीनाथजी के स्वरूप में अन्तर्हित हो गये। उस समय से वह स्थल और मन्दिर श्रीवल्लभाचार्य के अनुयायियों के अधीन हो गया। इस विषय का विशेष वृत्त 'वंशागिर्याख्यायिका' नामक ग्रंथ में प्रसिद्ध है। वल्लभाचार्य गिरिराज से लौटकर जब तक श्रीगोकुल वापस नहीं आ गये, तब तक उनके सेवक प्रभुदास ने अन्न-जल ग्रहण नहीं किया था, और भगवद्भजन के लिये समाधि लगा ली थी।

इसी प्रकार गोकुल में एक बार वल्लभाचार्य के विराजने के लिये सद्यनिर्मित मृण्मय चबूतरे पर रात्रि को भगवान् श्रीबालकृष्ण ने क्रीडा की थी। जिसके कारण प्रातःकाल अनेक वैष्णवों को उनके पुनीत असाधारण चिह्न-युक्त चरण-कमल-चिह्नों के दर्शन हुए थे।

इस घटना के कुछ दिनों के बाद श्रीवल्लभाचार्य सपरिवार गोकुल से आकर श्रीगिरिराज की उपत्यका में श्रीनाथजी की सेवा करते हुए रहने लगे। वहाँ भी कतिपय लोगों को भगवल्लीलाओं के दर्शन होते थे। एक दिन श्रीराधिकाजी को दधि-नवनीत का पात्र लेकर मन्दिर के भीतर जाते हुए तो सबने देखा, पर फिर वापस लौटते हुए उन्हें किसी ने भी नहीं देखा।

श्रीनाथजी के दर्शन खुलने पर दधि और नवनीत लगे हुए उनके मुखारविन्द के लोगों को दर्शन हुए, जिससे उपस्थित व्यक्तियों को बड़ा कुतूहल हुआ। इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्य के अनुग्रह से ही अनेक व्यक्ति लीलाओं का साक्षात्कार कर अपने को कृतकृत्य मानते थे।

एक समय जीवों को भगवदभिमुख करने के विचार में वल्लभाचार्य को निमग्न देखकर भगवान् पूर्णपुरुषोत्तम ने साक्षात् प्रकट होकर श्रीमुख से "ब्रह्मसम्बन्ध करणात्" इत्यादि सिद्धान्त-रहस्योक्त श्लोकों का उपदेश दिया, और ब्रह्म-सम्बन्ध-दीक्षा का प्रकार बतलाकर जीवों के उद्धार का मार्ग सरल कर दिया।

श्रीवल्लभाचार्य के द्वारा प्राप्त दीक्षा से किसी-किसी उत्तम अधिकारी वैष्णव को भगवद्दर्शन भी हो जाते थे। एक बार वृन्दावन में भगवद्दर्शन का एक उत्कट विरही वैष्णव प्रमत्त व्यक्ति के समान कृष्ण नाम का उच्चारण करते हुए गलियों में घूमा करता था, सम्मुख आने पर आचार्य-चरणों ने उसको पञ्चाक्षर मंत्र का उपदेश दिया, जिससे वह भगवद्दर्शन पाकर कृतकृत्य हो गया।

इसी प्रकार उनकी प्रदर्शित सेवा-प्रणाली के रसिक वैष्णव मुक्ति का भी निरादर करते थे, जैसा कि—गंगा-तीर-निवासी, भगवत्परायण एक वैष्णव ने भगवत्साक्षात्कार के अनन्तर प्राप्त होनेवाली चतुर्विध मुक्ति को न माँगकर भगवत्सेवा का ही वरदान माँगा था, क्योंकि भागवत-सिद्धान्त में मुक्ति की अपेक्षा भगवत्सेवा ही मुख्य मानी गई है।

एक बार श्रीवल्लभाचार्य गोकुल से चलकर प्रयागादि स्थलों की यात्रा करते हुए श्रीपुरुषोत्तम-क्षेत्र—जगन्नाथपुरी—में पधारे। उस समय परमभागवत श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु कीर्तनानन्द का रस लेते हुए वहाँ निवास कर रहे थे। वल्लभाचार्य के दर्शन होने पर उन्होंने भगवद्बुद्धि से ही उनका सत्कार कर उनके भक्ति-सिद्धान्तों का श्रवण-मनन किया था। दोनों महापुरुषों के भगवत्संकीर्तनात्मक वार्तालाप से वैष्णवों को अत्यन्त आनन्द उपलब्ध होता था।

जिस प्रकार वल्लभाचार्य के विषय में श्रीकृष्ण चैतन्य भगवद्बुद्धि रखते थे, उसी प्रकार उनके विषय में श्रीवल्लभाचार्य की भी वैसी ही बुद्धि थी। एक दिन यात्रा करते हुए श्रीकृष्णचैतन्य सहसा गंगा-तट पर विराजमान श्रीवल्लभाचार्य के घर आये। अदृष्टपूर्व एवं परिचय न होने पर भी वल्लभाचार्य ने उन्हें कृष्णचैतन्य मानकर अभ्युत्थानादि देकर उनका सत्कार किया। कृष्ण-चैतन्य को महाप्रसाद लिवाने के लिये वल्लभाचार्य ने अपनी पत्नी को आज्ञा दी, पर वे राजभोग के उपरान्त अनवसर हो जाने एवं समस्त वैष्णवों के महाप्रसाद ले चुकने के कारण ऐसा करने को विवश थीं। अन्त में वल्लभाचार्य ने परिस्थिति जानकर और ऐसी दृढ भावना कर कि इनके हृदय-मन्दिर में साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तम कृष्णचंद्र विराजमान हैं—वह स्वीकार करेंगे—असमर्पित भोजन-सामग्री से ही उनको महाप्रसाद लिवाकर विदा किया।

जगन्नाथपुरी में दोनों में घनिष्ठता हो जाने पर वैष्णव-सेवकों

से यह कहकर कि—श्रीवल्लभाचार्य गुरु ही नहीं, प्रत्युत साक्षात् देवकी-पुत्र हैं, कृष्णचैतन्य यात्रार्थ अन्यत्र चले गये थे।

प्रथम-पुत्र श्रीगोपीनाथजी के जन्म हो जाने के कुछ दिनों बाद जब वल्लभाचार्य यात्रा करते हुए व्रजमण्डल की ओर आ रहे थे, तब मार्ग में विश्राम लेने के लिये गंगा-तट पर स्थित होकर एक दिन वे भगवत्सेवा कर रहे थे। उस समय उन्हें ऐसा ज्ञात हुआ कि बालक मेरी पीठ का सहारा लेकर खड़ा हो रहा है। सेवा में व्यग्रचित्तता हो जाने से वह अपनी पत्नी को बालक की देख-रेख न करते रहने का उपालंभ देने लगे, पर प्रत्युत्तर में यह सुनकर कि—बालक तो कभी का सोया हुआ है, वह आपके पास कहाँ से आयगा, उन्हें बड़ा कौतुक हुआ। अन्त में इसे भगवान् बालकृष्ण की लीला समझकर वे पूर्ववत् तल्लीनता से अर्चना करने लगे।

श्रीवल्लभाचार्य के अन्यत्र पधार जाने पर सेवक माधवभट्ट उनकी आज्ञा से किसी ग्राम में भगवत्सेवार्थ रह गये। सेवा-पूजा के उपरान्त भागवत-दशमस्कन्ध, नवरत्न-स्तोत्र आदि का पाठ कर दैनिक कार्य करना उनका नित्य नियम था। माधवभट्ट की महानुभाविता और पुण्यशालीनता के प्रभाव से ग्राम-वासियों को किसी आकस्मिक विपत्ति का सामना नहीं करना पड़ता था। एक दिन वहाँ के ग्रामाधिपति के एकमात्र युवा पुत्र की आकस्मिक मृत्यु के संवाद से लोगों को बड़ा आश्चर्य होने लगा। उन्होंने कहा कि—माधवभट्ट की उपस्थिति में भी क्या ऐसे अनर्थ का

होना संभव है ? ग्रामाधिपति के घर जाकर माधवभट्ट जब सम-वेदना प्रकट करने लगे, तो उन्हें भी हार्दिक परिताप होने लगा। उन्होंने कातर होकर जब "दयालोरसमर्थस्य दुःखायैव दयालुता, विश्वोद्धरणदक्षस्य सा तवैकस्य शोभते" इत्यादि श्लोकों द्वारा प्रार्थना की, तो परमकारुणिक सर्व-समर्थ श्रीहरि की कृपा से ग्रामा-धिपति का मृत पुत्र सहसा जीवित हो गया। जिसे देखकर ग्राम-वासियों की माधवभट्ट पर और भी अधिक आदर-बुद्धि हो गई।

माधवभट्ट जनता की विशेष श्रद्धा-दृष्टि से खिन्न होकर—आगे चलकर अभिमान द्वारा अपनी सात्त्विक वृत्ति के नष्ट हो जाने के भय से—वहाँ से चुपचाप रात्रि को चलकर गिरिराज जा पहुँचे, और समस्त वृत्तान्त वल्लभाचार्य से निवेदित कर वहाँ रहने लगे। वल्लभाचार्य ने भी उपदेश द्वारा माधवभट्ट के मन को सान्त्वना दी, और वहीं जाकर रहने के लिये उनको वापस भेज दिया।

राणाव्यास-नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् वैष्णव—जो स्थानेश्वर-वासी रामानन्द के दीक्षित-शिष्य थे—सिद्धपुर में रहकर अपने नवीन मत का प्रचार करते थे। उनके शिष्यों में पिता-पुत्र नारा-यणदास, गोविन्ददास द्विवेदी, औदीच्य ब्राह्मण वत्साभट्ट आदि विशेष विख्यात थे। वत्साभट्ट द्वारका में सहसा अग्नि-कोप द्वारा अपनी पत्नी और पुत्र-मरण के शोक से संसार त्यागकर किंकर्तव्य-विमूढ बन गये थे, वे शान्ति-प्राप्ति के लिये इधर-उधर परि-भ्रमण करते हुए अन्त में भागीरथी-तट पर वल्लभाचार्य के शिष्य हो गये। वल्लभाचार्य ने उन्हें पुष्टि-मार्ग में दीक्षित कर भग-

यदिच्छानुसार कर्तव्य करते रहने का उपदेश देकर द्वारका भेज दिया। इसी बीच राणाव्यास की प्राण-प्रिया पत्नी का भी स्वर्ग-वास हो गया, वे भी विह्वल और उन्मत्तवत् होकर शान्ति-सुख की अन्वेषणा करने लगे।

श्रीवल्लभाचार्य उन दिनों मार्ग में अनेक जीवों को भक्ति-प्रचार द्वारा कृतार्थ कर, शतशः भगवद्भक्त नृपतियों को शरण में लेकर उनकी सत्कार-सेवा को अंगीकार कर काशी से द्वारका आ रहे थे। मार्ग में भगवत्प्रेरणा होने पर सिद्धपुर जाने का विचार छोड़कर उन्हें सीधा द्वारका आना पड़ा। वहाँ पहुँचकर उन्होंने श्रीभागवत की सप्ताहपारायण सुनाकर द्विवेदी नारायण-दास तथा अच्युताश्रम-नामक दाक्षिणात्य संन्यासी को अपना शिष्य बनाया। कथा-समाप्ति के अनन्तर वल्लभाचार्य ने द्विवेदी नारायणदास को सिद्धपुर भेजकर राणाव्यास को अपने पास बुलाया, पर वह रामानन्द का कट्टर शिष्य होने से अन्य का उपदेश सुनना ही नहीं चाहता था। नारायणदास के खाली लौट आने पर वल्लभाचार्य ने कुछ उपेक्षा-मिश्रित भाव से कहा कि—कोई चिन्ता नहीं है! राणाव्यास के सेव्यरूप भगवान् कृष्ण तो हमारे ही हैं, उनके स्वयं यहाँ पधार आने पर वह स्वयं आकृष्ट होकर यहाँ चला आयगा। वास्तव में हुआ भी ऐसा ही।

एक दिन सेवा करते समय भगवन्मूर्ति राणाव्यास के समक्ष से सहसा अन्तर्हित हो गई। वह भगद्वियोग में प्रमत्त होकर चित्त की शान्ति के लिये जहाँ-तहाँ घूमने लगा।

भागवत-प्रवचन के उपरान्त श्रीवल्लभाचार्य ने नारायणदास तथा अच्युताश्रम को भगवद्गीता और उपनिषदों की व्याख्या सुनाई। उनके मुख से परमतत्त्व का उपदेश सुनकर वे दोनों कृत-कृत्य होकर अन्त में भगवद्धाम को प्राप्त हो गये।

द्वारका नगरी में शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त और भक्ति-सम्प्रदाय की स्थापना कर श्रीवल्लभाचार्य जब अन्यत्र जाने लगे, तब माया-वादियों ने शास्त्रार्थ का झगड़ा उठाया। अन्त में कुछ दिनों तक शास्त्र-चर्चा द्वारा विपक्षियों को पूर्ण पराजित कर वल्लभाचार्य ने भक्ति-मार्ग की पुनः विजय-वैजयन्ती फहराई। इसके अनन्तर वे निश्चिन्तता से माधवभट्ट को प्रयाग भेजकर, वत्साभट्ट को पुनः गृहस्थ बनाकर और द्विवेदी गोविन्ददास को भगवत्सेवा में नियुक्त कर यात्रा करते हुए कुछ दिनों में श्रीजगन्नाथपुरी पधारे। वहाँ पर राणाव्यास भी चित्त की उद्विग्नता मिटाने और कल्याण-प्राप्ति की कामना से उनकी शरण में आया, और क्षमा-याचना कर उनका परम सेवक बन गया।

श्रीमद्वल्लभाचार्य के स्वरूप में कितने ही सानुभाव वैष्णवों को साक्षात्प्रभु के दर्शन होते थे। जगन्नाथधाम में यात्रार्थ आये हुए दो गुर्जर वैष्णवों को श्रीजगन्नाथ प्रभु की गजयात्रा के समय श्रीवल्लभाचार्य के ही दर्शन हुए, जिससे वे गुरु को प्रभु मानकर उनके अनन्य चरण-सेवक बन गये थे।

इसी प्रकार वल्लभाचार्य के साथ पुरी की परिक्रमा-यात्रा करते समय एक सेविका अत्यन्त वृद्धा स्त्री के पीछे रह जाने और मार्ग

भूल जाने परभगवान् श्रीजगन्नाथरायजी ने ब्राह्मण-बालक का बेश धारण कर स्थान पर पहुँचाया, और उसे अपना दर्शन देकर कृतार्थ किया था। इसी प्रकार वल्लभाचार्य की पत्नी को भी अपने पति के माहात्म्य जानने की एक दिन उत्कट इच्छा हुई, तो उनको भी अग्नि-पुञ्ज के मध्य में विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में ही अपने पतिदेव के दर्शन हुए थे।

बदरिकाश्रम पधारने पर वल्लभाचार्य के साथ किसी एक वृद्ध महानुभाव वैष्णव की घनिष्ठ मैत्री हो गई। उसे भगवान् नारायण का साक्षात्कार होता था। एक दिन वल्लभाचार्य के विषय में—कलिकाल में भी उनके अलौकिक तेज और प्रतिभा को देखकर—उसके प्रश्न करने पर भगवान् नारायण ने कहा था कि यह भूतल पर दैवी सृष्टि के उद्धार तथा मायावादान्धकार के निवृत्त करने के लिये अग्नि, व्यास, नारद, रुद्र एवं श्रीकृष्ण के अंशों से प्रकट हुए हैं। अग्नि के अंश से यह पूर्वजन्म में राजा भोज के रूप में प्रकट हो चुके हैं। सम्प्रति व्यासांश से आचार्य-स्वरूप, वागीश्वर-वैश्वानरांश से अद्वितीय भगवच्चरित्र के व्याख्याता, नारदांश से समर्थ भक्ति-प्रचारक, रुद्रांश से संन्यास धारण कर जीवों को भगद्धामप्रापक तथा भगवान् श्रीकृष्ण के अंश से सर्वोद्धार-प्रयत्नात्मा हैं। भविष्य में यह अपना अलौकिक तेज स्वात्मज श्रीविट्ठलनाथजी में प्रतिष्ठापित कर भक्ति का अधिक विस्तार करेंगे। भगवत्स्वरूप होने के कारण इनके अद्वितीय पराक्रम तथा दिव्य प्रभाव के विषय में किसी प्रकार से आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार श्रीमद्वल्लभाचार्य ने तीन बार भारत-भूतल की प्रदक्षिणाओं के द्वारा अपने जीवन में विद्या-वैभव तथा भगवन्निष्ठता से सर्वत्र भक्ति-मार्ग की दृढ स्थापना की, और शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवाद की विजय-दुन्दुभी बजाकर अज्ञान-प्रसुप्त कोटिशः जीवों को जागरूक बनाकर सन्मार्ग पर आरूढ किया। अपने जीवन-कर्तव्य को समाप्त कर भगवदाज्ञानुसार जब वल्लभाचार्य को मृत्यु-लोक-परित्याग-पूर्वक भगद्धाम पधारने का आन्तरिक विचार हुआ, तो वे प्रयाग के समीप त्रिवेणी-तट पर अलर्कपुर ( अडेल ) में आकर निवास करने लगे।

इसके पूर्व आपके पुत्र श्रीगोपीनाथजी तथा श्रीविट्ठलनाथजी का जन्म सं० १५६७ और १५७२ में हो चुका था। संन्यासाश्रम स्वीकार करने के पूर्व कुछ दिनों पहले श्रीवल्लभाचार्य ने अपने वयस्क ज्येष्ठ पुत्र श्रीगोपीनाथजी से इस प्रकार आज्ञा का कि—मेरे लोक-त्यागानन्तर तुम भी कुछ समय बाद नित्यलीला में प्रविष्ट हो जाओगे, क्योंकि तुम्हारे द्वारा बलदेवांश का कार्य समाप्त हो चुका है। तुम्हारे स्थान पर तुम्हारे लघुभ्राता श्रीकृष्णांशावतार श्रीविट्ठलनाथ इस वंश के प्रवर्तक एवं पुष्टि-मार्ग के संचालक होंगे। भगवदनुग्रह से श्रीभागवत का रहस्य बीजरूपेण उनके ही हृदय में प्रतिष्ठापित हो चुका है।

श्रीवल्लभाचार्य के संन्यास-ग्रहण करने के पूर्व ही काश्मीरी माधवभट्ट तथा प्रभुदास भी अपना मर्त्य-देह छोड़कर गुरु-कृपा से भगवत्पद को प्राप्त हो चुके थे।

इस समय श्रीवल्लभाचार्य—निबन्ध-त्रय, षोडश-ग्रन्थ तथा अणु-भाष्य एवं अनेक प्रकीर्ण ग्रन्थों की रचना कर भागवत के तृतीय-स्कन्ध तक श्रीसुबोधिनी-टीका का प्रणयन कर चुके थे। चतुर्थ-स्कन्ध की टीका प्रारंभ करते समय उत्सङ्गासीन श्रीबालकृष्णजी के आग्रह करने पर उनको बीच के स्कन्ध छोड़कर निरोध-लीला-स्वरूप दशमस्कन्ध की व्याख्या सम्पूर्ण करनी पड़ी।

परम्परा से यह प्रसिद्ध है कि—द्वितीयस्कन्ध-सुबोधिनी लिखाते समय स्वयं भगवान् कृष्ण ने प्रकट होकर वल्लभाचार्य को "भूमेः सुरेत्तर वरूथ०" इस श्लोक की व्याख्या का उपदेश किया था, और निबन्ध के "गृहं सर्वात्मनात्याज्यं०" इत्यादि दो श्लोक भी स्वयं श्रीहस्त से लिखकर प्रदान किये थे। आपके अयोध्या पधारने पर हनुमानजी ने विप्र रूप धरकर भागवत की सम्पूर्ण व्याख्या तथा बदरिकाश्रम जाने पर श्रीनरनारायण ने "वाम बाहु कृत०" इत्यादि सम्पूर्ण अध्याय की व्याख्या श्रवण की थी।

स्वकीय-प्राकट्य का ध्येय पूर्ण हो जाने पर श्रीवल्लभाचार्य ने वर्णाश्रम-धर्म को मर्यादा के परिपालनार्थ एक दिन अपनी पत्नी से संन्यास लेने की आज्ञा माँगी, परंतु स्नेह-वश वह उन्हें प्राप्त नहीं हुई। एक समय जब वह अडेल में अपनी अग्निहोत्रशाला में विराजमान थे, सहसा आश्रम के चतुर्दिक् अग्नि का प्रकोप हो गया। इस उत्पात से भयभीत होकर उनकी पत्नी ने गृह त्याग-कर बाहर निकल जाने की प्रार्थना की। पत्नी के इस कथन को

ही संन्यास के लिये आज्ञा मानकर उन्होंने सर्वस्व-परित्याग करते हुए मनसा संन्यास धारण कर लिया। गंगा के पवित्र तट पर आकर उन्होंने त्रिदण्ड-संन्यास-दीक्षा लेकर 'संन्यास-निर्णय'-नामक ग्रंथ का शिष्यों को उपदेश दिया।

प्रयाग में संन्यास लेकर श्रीवल्लभाचार्य विष्णुस्वामी के समान यति-वेश धारण कर काशी आए, और वहाँ हनुमानघाट पर निवास कर भगद्भजन करने लगे। इक्कीसवें दिन उन्होंने गोपीनाथजी तथा विट्ठलनाथजी को उद्देश्य कर 'शिक्षा-श्लोक' द्वारा अन्तिम लेखिक उपदेश प्रदान किया, और अपना अवशिष्ट नित्यनियम समाप्त किया।

मध्याह्न के समय श्रीमद्वल्लभाचार्य पुण्य-सलिला, भगवच्चरण-विनिःसृता भगवती भागीरथी की मध्य धारा में पधारे, और वहाँ भगवच्चरणारविन्दों का स्मरण करते हुए लोक-दृष्टि से अन्तर्हित हो गये। एक क्षण के बाद ही उपस्थित समुदाय ने जल-राशि से विनिर्गत ऊर्ध्वगामिनी, मनोहर, अलौकिक, उज्ज्वल ज्योति के दर्शन कर अपने को कृतकृत्य माना।

इस प्रकार आचार्य-चक्र-चूड़ामणि, जगद्गुरु, वैश्वानरावतार श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भूतल पर अवतार लेकर विष्णुस्वामि-संप्रदाय-प्रतिपादित सगुणभक्ति के स्थान पर निर्गुण( अहैतुकी-निष्काम )भक्ति तथा शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद की स्थापना की। मायावादान्धकार से पथभ्रष्ट दैवी सृष्टि को निर्भ्रान्त बनाकर कलिकाल में सर्वश्रेष्ठ, सर्वसुलभ साधन-स्वरूप भक्ति के द्वार

कोटिशः जीवों को भगवच्चरणारविन्द-मकरन्द का लोलुप भ्रमर बनाकर उन्होंने उनके उद्धार का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

आचार्य-चरणों के अनन्तर कुछ समय तक उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीगोपीनाथजी सम्प्रदाय की रक्षा करते रहे। अन्त में वे जगन्नाथ-धाम में जाकर भगवद्विग्रह में लीन हो गये। उनके युवापुत्र श्रीपुरुषोत्तमजी के भी गोलोक-वास हो जाने पर पुष्टि-सम्प्रदाय का भार श्रीविट्ठलनाथजी पर आया।

गोस्वामिवंश-भास्कर श्रीविट्ठलनाथजी अपने विशाल स्कन्ध युगल पर सम्प्रदाय की रक्षा और प्रचार का भार धारण कर आचार्य-पद पर आसीन हुए। श्रीमद्वल्लभाचार्य के समान आप भी दशदिगन्त-विजय-लाभ कर श्रीगिरिधरजी आदि अपने सात पुत्रों के साथ भगवत्सेवा, शास्त्रोपदेश, शास्त्रार्थ तथा ग्रंथ-रचना द्वारा भक्ति-मार्ग की रक्षा कर रहे हैं। सम्प्रति आप ही इस मार्ग की विजय-पताका फहराते हुए जय प्राप्त कर रहे हैं।

'श्रीवल्लभाचार्य-चरित-निरूपण'-नामक

चतुर्थ प्रकरण समाप्त

---

# पञ्चम प्रकरण

## ( श्रीकृष्णाख्यब्रह्मनिरूपण )

उपनिषदों में जिसे ब्रह्म परतत्त्व कहा है,
जो निर्गुण-साकार विश्व में रमा हुआ है,
वही देवकी-पुत्र कृष्ण, वेद-प्रतिपादित,
सिद्धान्तित है यही, अन्य-मत मोहक बाधित।

समस्त वेदों में एकमात्र ब्रह्म का ही प्रतिपादन होने से उसकी प्राप्ति ही परमपुरुषार्थ माना गया है। प्राप्तव्य वस्तु अवश्य आकारवान् होती है, इस नियम के अनुसार ब्रह्म को भी यत्किञ्चित् आकारवान् मानना आवश्यक है। इस पर भी वेद-प्रतिपादित होने से वह सर्वथा निराकार भी नहीं हो सकता ! एवंच उसको निराकार मान लेने पर उसको प्राप्त करना सर्वथा असंभव हो जाता है। अतः समस्त वेद-वाक्यों का समन्वय किये विना निराकारता का एकाङ्गी निर्णय कर लेना अवैदिक-सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

वेद कितने हैं ? इस प्रश्न का उत्तर—"अरे अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वा०" इत्यादि बृहदारण्यकोपनिषद् ( २ अ० ४ ब्रा० १० मं० ) के वाक्य से प्राप्त होता है। उक्त श्रुति-वाक्य की पूर्वापर संगति

लगाने से यह सिद्ध होता है कि—आप्त, स्वतःप्रमाणभूत, त्रिकालाबाधित वाङ्मय सृष्टि में जिस अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, वह भगवन्मुख-विनिःसृत होने से वेद-स्वरूप ही है। इसके अतिरिक्त यह भी बोधित होता है कि—श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण-प्रतिपादित, परमकाष्ठापन्न वस्तु का ही श्रवण-मनन, निदिध्यासन तथा दर्शन करना वैध कर्तव्य है। उस वस्तु का ज्ञान इनमें से किसी एक के द्वारा न होकर समस्त आप्त-वाङ्मय की एकवाक्यता से ही हो सकता है।

जिस प्रकार सदाचार, तीर्थ-कर्तव्य, एकादशी-व्रत आदि के विधान और फल का निर्णय केवल वेद से न किया जाकर स्मृति और ज्योतिष-शास्त्र से किया जाता है, उसी प्रकार वेदोक्त प्रवृत्ति-धर्मात्मक कर्म-काण्ड तथा निवृत्ति-धर्मात्मक ज्ञान-काण्ड का निर्णय भी वेद-स्मृति-इतिहास ( महाभारत ) और पुराणों की एकवाक्यता से होता है। 'अन्धकृतगज-स्पर्श' न्याय से किया हुआ केवल एकाङ्ग का परिज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं कहा जा सकता! यदि वेद-वाक्यों में अरूप, अनाम, अकर्म इत्यादि ब्रह्म के विशेषणों का बिना विचार किये उसको वैसा ही मान लिया जाय, तो "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि विधि वाक्य निर्विषयक एवं व्यर्थ हो जाते हैं। यदि ब्रह्म अरूप है, तो प्राप्तव्य और दर्शनीय कैसा! यदि वह अनाम है, तो श्रोतव्य कैसा! यदि वह अकर्मा है, तो सृष्टि-बोधक वाक्यों की क्या गति! इत्यादि शंका-दोषों के परिहारार्थ श्रुतियों की परस्पर

संगति लगाना और उनकी एकवाक्यता करना अपेक्षित है। इससे यह सहज में सिद्ध हो जाता है कि वेद में उभयधर्म-विशिष्ट ब्रह्म का ही निरूपण किया गया है। इस प्रकार के निर्णय में वेदार्थ का स्पष्टीकरण उत्तर-मीमांसा के द्वारा विशेष-रीत्या होता है। क्योंकि जिस प्रकार कलियुग के मन्दमति जीवों के लिये कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने वेद का शाखा-विभाग किया है, उसी प्रकार तत्सन्देह-निरसन के लिये उत्तर-मीमांसा का प्रणयन भी।

यद्यपि वेदव्यास की आप्तता में आस्तिकों को शंका लेश भी नहीं है, तथापि स्कन्दपुराणोक्त सूत-संवाद से उसकी अधिक पुष्टि होती है। वहाँ वर्णन है कि—"एक बार जब काल-प्रभाव से वेदार्थ-ज्ञान में कुण्ठित-बुद्धि हो जाने पर ऋषियों तथा देवगण ने स्तुति द्वारा ब्रह्माजी से तदर्थ-प्रकाशन के लिये विज्ञप्ति की, तब लोक-पितामह चतुरानन ने भी इस विषय में अपनी विवशता प्रकट कर दी। अन्त में सुर-समुदाय के साथ वे वेदकर्ता, वेदविद्, स्वयं वेदस्वरूप, भगवान् पूर्णपुरुषोत्तम की प्रार्थना करने लगे। इस स्तवन से प्रसन्न होकर कृपालु श्रीहरि ने उनके हृदयाकाश में ज्योतिर्मय-स्वरूप से प्रकट होकर यह आज्ञा की कि—मैं अपने कला-वतार, सत्यवती-नन्दन, पराशरात्मज वेदव्यास के रूप में अवतरित होकर तुम्हारे इस अभीष्ट को पूर्ण करूँगा। उस समय मैं श्रुत्यर्थों के सन्देह-निवारणार्थ ब्रह्मसूत्र और वेदार्थ-प्रकाशन के लिये महा-भारत की रचना करूँगा। कलिकाल में अधिकांश वेद-शाखाओं

के तिरोहित हो जाने से वास्तविक वेदार्थ के लुप्त हो जाने की आशंका भी तुम्हें नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वेदाभिप्राय के प्रकाशित करने के लिये ही महाभारत में—कृष्णावतार के द्वारा अर्जुन के प्रति—उपदिष्ट गीता का ग्रथन किया जायगा। इसके अतिरिक्त निगम-कल्पतरु के फल-स्वरूप श्रीभागवत की रचना से श्रुत्यर्थ का सुस्पष्ट विवरण करना भी मेरे व्यासावतार का अन्यतम प्रयोजन होगा। कलियुग में ब्राह्मण-समुदाय में आसुर-सृष्टि अनेक रूप में उत्पन्न होकर वेद-विपरीत मतों का प्रचार करेगी, जिसका निवारण कृष्णद्वैपायन वेदव्यास-द्वारा निर्मित भारत, गीता, ब्रह्मसूत्र एवं भागवत के द्वारा सहज में किया जा सकेगा।"

देवगण के प्रति इसप्रकार आज्ञा कर भगवान् अन्तर्हित हो गये। कुछ समय के उपरान्त वेदव्यास ने अवतार लेकर उक्त ग्रन्थों के प्रणयन द्वारा वेदाभिमत सन्मार्ग की स्थापना की। जिससे प्रस्थानचतुष्टय के उद्दाम तेजःपुञ्ज से अवैदिक नीहार का सर्वथा लोप हो गया।

उपर्युक्त कथानक से यह निष्कर्ष निकलता है कि वेदव्यास-रचित ब्रह्मसूत्र-गीता-भागवतोक्त सिद्धान्त ही वास्तविक वैदिक-सिद्धान्त है। इस निर्णायक प्रस्थानत्रय के वचनों से तथा गार्गी आदि के प्रति उपदिष्ट याज्ञवल्क्य आदि के उपनिषद्-प्रतिपादित वाक्यों से यह निर्विवाद है कि—देवकी-पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण ही परब्रह्म परमात्मा हैं, और वह परब्रह्म साकार, व्यापक एवं विरुद्ध-धर्माश्रय-स्वरूप है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के—"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् सम्बाहुभ्यां धमति०" इत्यादि एवं गीता के "सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्" इत्यादि वाक्यों से पूर्णब्रह्म की साकारता स्पष्टरीत्या निर्धारित होती है।

अचिन्त्यानन्त-शक्तिमान् ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय लौकिक युक्ति से नहीं, प्रत्युत वेद-वाक्यों के अर्थावबोध से ही किया जा सकता है, इसीलिये सर्व-वेदार्थदर्शी भगवान् बादरायण ने 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' तथा 'द्रष्टव्यः' के प्रत्यक्षरूप में गीतावक्ता, सच्चिदानन्दकन्द, पूर्णब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण को ही उपस्थापित किया है। महायोगीश्वर, सर्वतत्त्वज्ञ श्रीशुकाचार्य ने भी सर्व-प्राकृतधर्मों से विलक्षण, आनन्द-मात्र करपादमुखोदरादि, विविध-नाम-गुण-कर्म-लीला-युक्त शुद्ध-स्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण के चरित-गान द्वारा इसी परतत्त्व का प्रतिष्ठापन किया है।

महर्षिपराशर-प्रोक्त विष्णु, ब्रह्म, पद्म आदि पुराणों में भी नराकृतिधारी परब्रह्म का ही वर्णन उपलब्ध होने से भगवान् कृष्ण ही पूर्णावतारी, और अन्य अवतार उनके अंशरूप सिद्ध होते हैं।

वैष्णव-सिद्धान्त के प्रवर्तक अन्य आचार्य भी समस्त अवतारों को समकक्ष मानते हुए भी आदर्श-स्वरूप किसी एक विशेष अवतार में सर्वात्मभाव से सेव्यत्व बुद्धि रखते चले आये हैं, क्योंकि "यो यदंशः स तं भजेत्" इस भक्ति-मार्ग की सम्मत-प्रणाली के अनुकूल अपने मूल-रूप उपास्य अवतारों

की पूर्णत्व बुद्धि से उपासना करना युक्ति-शास्त्र दोनों से सिद्ध है। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" इस गीता-वाक्य के अनुसार पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण भी तो अपने भक्त के लिये उसी सेव्यरूप में उपस्थित होने की प्रतिज्ञा से बद्ध हैं, जिसमें भक्त की दृढ़निष्ठा होती है। अतः उक्त शास्त्र-वचनों से कर्म-ज्ञान-उपासनाकाण्डात्मक समस्त वेद-राशि का यही एकमात्र सार निकलता है कि शुद्ध, साकार ब्रह्म अनन्त-रूप होने पर भी मूल-रूपेण भगवान् श्रीकृष्ण-स्वरूप ही है।

गीता (१५ अध्याय) में "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः" से लेकर "यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्" इस श्लोक तक भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी सर्वत्रव्यापकता परिदर्शित कर स्वयं को ही वेद-वेदान्त-वेद्य कहा है। इसी प्रकार क्षर-अक्षर का विवेचन कर क्षर से अक्षर को और अक्षर से लोक-वेद-प्रसिद्ध पूर्ण-पुरुषोत्तम (स्वयं) को श्रेष्ठ अभिव्यक्त किया है। अन्त में "यो मामेवमसंमूढो जानाति०" इस श्लोक के 'एव'कार द्वारा अपने स्वरूप को ही परम उपास्य सिद्ध किया है।

गीता के 'पुरुषोत्तम-योग' नामक अध्याय का सारांश यह है कि—"अधिभूतं क्षरो भावः" इस प्रमाण के अनुसार क्षर परमात्मा का आधिभौतिक स्वरूप है, और "प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्मा भवत्पुरा ; यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते।" इस प्रमाण के अनुसार जिस रूप का अधिष्ठान लेकर परमात्मा ने प्रकृति और पुरुष का रूप धारण किया है, वह अक्षर

उनका आध्यात्मिक स्वरूप है। इन दोनों से श्रेष्ठतम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, कलावतार, पूर्णपुरुषोत्तम, भगवान् श्रीकृष्ण हैं। उक्तरूप से भजन करनेवाला ही 'असंमूढ' एवं 'सर्वविद्' कहलाता है, और अन्तकाल में इसी स्वरूप का स्मरण करनेवाला अपुनरावृत्ति को प्राप्त करता है। अतः यही सिद्धान्त परम रहस्य है।

भागवत-तृतीयस्कन्ध में विदुर के प्रश्न करने पर मैत्रेय ने प्रत्येक कल्प और उनके अवतारों का निरूपण करते हुए सारस्वत-कल्पीय श्रीकृष्णावतार को ही पूर्णावतार सिद्ध किया है।

तद्विषयक श्लोकों का तात्पर्य इस प्रकार है—

"ब्रह्मा की आयु के अर्धभाग की 'परार्द्ध' संज्ञा है, अतः उनकी शतवर्षात्मक पूर्णआयुष्य में 'पूर्वपरार्ध' एवं 'द्वितीय परार्ध' इस प्रकार की व्यवस्था मानी गई है। ब्रह्मा के पूर्वपरार्ध-काल के आदिभाग में उनके वर्षमान के अनुसार सौ वर्ष का 'ब्राह्म'-नामक एक महाकल्प हुआ, जिसमें स्वयं भगवान् ने ब्रह्मारूप से प्रकट होकर सृष्टि-रचना की थी। भगवान् के उस रूप को 'शब्दब्रह्म' इस नाम से पुराणों में सम्बोधित किया गया है। उक्त ब्राह्म-कल्प के अन्त में ( पूर्व-परार्धान्त में ) पाद्मकल्प-नामक महाकल्प हुआ, जिसमें भगवान् श्रीहरि के नाभि-सरोरुह से लोक-पितामह ब्रह्मा का अधिष्ठान-स्वरूप कमल प्रकट हुआ, और इसी से उस कल्प का नाम 'पाद्म' हुआ। उक्त पाद्मकल्प के अन्त ( द्वितीय परार्ध के

आदि ) में वर्तमान 'वाराहकल्प' का समय आया, जिसका नामकरण श्रीहरि के वाराह-रूप धारण कर पृथ्वी के उद्धार करने से हुआ। (भाग० ३ स्कं० ११ अ० ३३ श्लोक)

"तत्तत्कल्प में अवतरित व्यास के द्वारा तत्तत्कल्प का वृत्तान्त तत्तत्पुराणों में ग्रथित किया जाता है, इस कारण कल्प-भेद की सृष्टि के अनुसार पुराणों में परस्पर मतभेद प्रकट होता है।" इत्यादि मत्स्यपुराण के कल्पभेदाध्याय के वचनों से यह निश्चित किया गया है कि—कृष्णद्वैपायन—वेदव्यास-रचित श्रीभागवत महापुराण ही सारस्वतकल्पीय वृत्तान्त का प्रतिपादक है, और इसी में सारस्वतकल्पीय पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का गुम्फन किया गया है।

भागवत में सूतजी ने "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इन वचनों से अन्य अवतारों की अंश-कलावतारता और श्रीकृष्ण की पूर्णावतारता का समर्थन किया है।

जिन सिद्धान्तवादियों के मत में "पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार 'नारायण' को ही सृष्टि का कर्ता, धर्ता, संहर्ता और परब्रह्म माना गया है, उनके मत में भी नारायण पुरुष-रूपधारी ही हैं। भागवत के "जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः०" इस श्लोक के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्म ने ही पौरुषरूप धारण किया है, यह सिद्ध होता है। अतः अन्य सिद्धान्तियों के मूलरूप नारायण भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य नहीं हैं, यह निर्विवाद हो जाता है। पृथक्-पृथक् अवतारों

की यावन्मात्र क्रिया-ज्ञान-शक्तियाँ पूर्णरूप में एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण में ही दृष्टिगोचर होती हैं, अतः वही मूलरूप परब्रह्म माने गये हैं। वेदों की रहस्य-प्रकाशिक, पूर्णप्रमाणभूत गीता के द्वारा भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है।

श्रीभागवत में "सूत ! जानासि भद्रं ते" इत्यादि श्लोकों में भगवदवतार के उद्देश्य का प्रश्न उठाकर उसके उत्तर में समस्त अवतारों का चरित-निरूपण संक्षेप में करते हुए, कृष्णावतार का प्रयोजन और लीलाओं का विवेचन विस्तृत रूप से किया गया है, जिससे वेदव्यास के हार्दिक अभिप्राय से अन्य अवतारों की समानकोटि और श्रीकृष्णावतार की उच्चकोटि सिद्ध होती है।

मत्स्यादि अन्य पुराणों में भी कर्म-ज्ञान-भक्ति का यथावसर विशद विवेचन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति का विशेष माहात्म्य प्रदर्शित किया है, जिससे श्रीकृष्ण की परात्परता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता।

वीतराग संन्यासियों को वेदार्थ-ज्ञान के लिये प्रतिदिन गीता-पाठ का उपदेश किया गया है, जिससे उसके प्रवर्तक को पूर्णआप्तता प्राप्त होती है, इस प्रकार की पूर्णआप्तता पूर्णब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसे प्राप्त हो सकती है ? फलतः श्रीकृष्ण की परमकाष्ठापन्नता निःसन्दिग्ध सिद्ध हो जाती है।

जिसप्रकार शास्त्र-पुराण-वचनों से यह ज्ञात होता है कि— सारस्वतकल्प में पूर्णावतार श्रीकृष्ण का प्राकट्य हुआ था, उसीप्रकार इस वाराहकल्प के वर्तमान मन्वन्तर के अट्ठाईसवें

द्वापर में भी उनकी पूर्णावतारता अवगत होती है। अतः सारस्वत कल्प के वृत्तान्त-बोधक श्रीभागवत की निर्दिष्ट-प्रणाली के अनुसार उनके भजन-सेवन में किसी प्रकार की अशास्त्रीयता नहीं आती।

प्रथम ही यह कहा गया है कि—ब्राह्म, पाद्म आदि कल्पों का समय ब्रह्मा के सौ वर्षों के समान था, पर कतिपय विद्वानों के मतानुसार वे ब्रह्मा के एक दिन के समान ही माने गये हैं। अर्थात् ब्रह्मा के एक दिन में एक कल्प व्यतीत हो जाता है। इस पक्ष के अनुसार ब्रह्मा के एक वर्ष (३६० दिन-स्वरूप कल्पों) में तीन सौ साठ श्रीकृष्णावतारों के होने पर भी सारस्वतकल्पीय कृष्णावतार की पूर्णता एवं अन्य अवतारों की अंशरूपता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता।

वैदिक-कर्मनिष्ठ पुरुष वेदतन्त्रोक्त-विधि से जिन-जिन देवताओं का आवाहन, पूजन आदि करता है, वे सब "मंत्राधीनाश्च देवताः" इस उक्ति से मंत्र-परतन्त्र माने गये हैं। परन्तु भगवान् कृष्ण का सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता में किसी प्रकार की बाधा न होने से उनकी पूर्णेश्वरता निर्बाध सिद्ध हो जाती है। वेदोक्त उपासना-मार्ग—जो भुक्ति-मुक्ति दोनों का साधक माना गया है—और कुछ नहीं, केवल "भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्" इत्यादि भागवत-वर्णित भगवान् कृष्ण का ही भक्ति-मार्ग है। इसी के द्वारा पूर्णब्रह्म का आराधन कर भक्ति-मुक्ति दोनों की प्राप्ति की जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से वेद-उपनिषद्-गीता-ब्रह्म-सूत्र-भारत-पुराणादि सम्पूर्ण साहित्य का यही निष्कर्ष निकलता है कि—परमात्मा के प्रति सर्वतोधिक निरुपधिक प्रेम ही जीव के योग-क्षेम का साधक है। वेद और उपनिषदों के 'तत्त्वमसि', 'आत्मैवेदं सर्वं', 'सोऽहं', 'आत्मावारे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि चतुर्विध महावाक्यों की तथा गीता-इतिहास-पुराणोक्त 'दासोऽहं कृष्ण तवास्मि' इत्यादि अर्थबोधक पञ्चम महावाक्य की अन्योन्य संगति लगाने से उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

आचार्यों ने उक्त महावाक्यों का अर्थ पृथक्-पृथक् लगाया है। किसी का कथन है—'तत्त्वमसि' के अर्थावबोध से यद्यपि जीव-ब्रह्म की भेद-प्रतीति होती है, तथापि उससे चरमावस्था में दोनों की अभिन्नता ही मानी गई है। किसी का मत है—'तत्त्वमसि' इस वाक्य के अर्थ से जीव की भगवदंशता प्रतिपादित होती है, इत्यादि। परन्तु उक्त समस्त अर्थों का सार यही निकलता है कि ब्रह्म को आत्मस्वरूप जानने से ही उसके प्रति सर्वतोधिक स्नेह हो सकता है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इत्यादि उपनिषद्-वाक्यों में जिस आत्मा को प्रियतम कहा गया है, वह वास्तव में श्रीकृष्ण ही है। 'प्रेष्ठो भवांस्तनु भृतां किल बन्धुरात्मा०' इस भागवत-वचन से वही सर्वात्मा और प्रेष्ठ-स्वरूप माने जा सकते हैं, अतः उनकी श्रवण-मनन-निदिध्यासन-रूप भक्ति तथा तदीयता-बुद्धि से जीव को स्वरूप ( मुक्ति ) की प्राप्ति हो सकती है।

इसप्रकार शास्त्र के महावाक्यों का अर्थज्ञान—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' ( गीता ) तथा 'श्यामसुन्दर ! ते दास्यं करवाम तवोदितम्' ( भाग० ) इत्यादि उक्तियों के अनुसार—शिष्यता और दास-वृत्ति के धारण करने पर ही सद्गुरु के उपदेश से हो सकता है। तदनन्तर गुरु के द्वारा भगवच्चरणों में आत्म-समर्पण तथा सेवा-कथा द्वारा भगवद्भजन करने से उपासक को स्वाभीष्ट की प्राप्ति हो सकती है। इस भक्ति को चिरस्थायी बनाने के लिये—'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीत्यभियाचते ; अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम' इत्यादि शरणागत-रक्षणार्थ की गई भगवत्प्रतिज्ञाओं पर—दृढ विश्वास करना अनिवार्य है।

भक्ति के लक्षण-द्योतक मुख्यतया दो प्रमाण-श्लोक उपलब्ध होते हैं—

**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।**
**इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ( गीता )**
**माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।**
**स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥**

**( नारद-पंचरात्र )**

यद्यपि उक्त दोनों श्लोकों का साधारण अर्थ भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, तथापि दोनों का अन्तःस्वारस्य एक ही है।

द्वितीय श्लोक में—माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक जो सुदृढ ( चिर-स्थायी ) सर्वतोऽधिक ( अनुपम ) स्नेह होता है, वह मुक्ति-

प्रदायक भक्ति कहलाता है—यह प्रतिपादित है। यही भाव गीता के उपरितन श्लोक में भी विधि-पूर्वक प्रदर्शित किया है। भगवन्माहात्म्य का ज्ञान—'अहं सर्वस्य प्रभवो, मत्तः सर्वंप्रवर्तते' इस पूर्वार्ध के अनुसार—भगवान् को ही सर्वकारण-कारण एवं समस्त सृष्टि का प्रवर्तक—रचयिता—मानने से ही हो सकता है, क्योंकि भगवत्स्वरूप और भगवल्लीलाओं का ज्ञान ही माहात्म्य-ज्ञान कहा जाता है। तत्स्वरूप और तत्कर्तव्य से अनभिज्ञ पुरुष किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम कैसे कर सकता है? 'स्नेहो भक्ति रिति प्रोक्तः' इस चरण के द्वारा वर्णित स्नेह गीता-श्लोक के 'भजन्ते' इस पद से बोधित होता है, क्योंकि स्नेह के बिना भजन असंभव है। इस स्नेह-भजन में बालक और माता के समान भक्त और भगवान् का सम्बन्ध स्थिर किया गया है। 'सुदृढ' और 'सर्वतोऽधिक', इन दो विशेषणों का विवरण गीता के 'भावसमन्विताः' इस पद से होता है। अर्थात् इदमित्थतया माहात्म्य के ज्ञाता विद्वान् ही भाव से समन्वित (सम्यक्प्रकार—सुदृढ़-अनुपम रीति से—अन्वित-युक्त) होकर ही भजन करते हैं।

गीता में भक्ति का प्रतिपादन करते हुए—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्;
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।

इस श्लोक में उसके प्रकार और फल का विवेचन किया है। 'मच्चित्ताः' एवं 'मद्गतप्राणाः'—इन दो विशेषणों से भक्त के

चित्त और प्राणों की भगवल्लीनता का वर्णन किया है, जिसका आन्तरिक अभिप्राय यह होता है कि भक्तों का चित्त—कार्यरूप पञ्चज्ञानेन्द्रियों तथा प्राण—क्रिया-शक्ति-कार्यरूप पञ्चकर्मेन्द्रियों का व्यापार—भी भगवदर्थ ही होता है, अथवा होना चाहिये*। भक्तों के चित्त और प्राण भगवद्गत होने के पूर्व ही भगवत्कथा-श्रवण और नाम-संकीर्तन से स्वतः ऐसे विमल हो जाते हैं, जैसे शरद् के आगमन के पूर्व ही सलिल। क्योंकि श्रवण और कीर्तन का वस्तु-प्रभाव ही ऐसा है। गीता के 'बोधयन्तः परस्परं' इस पद से यह ज्ञात होता है कि भक्तगण समानशील-व्यसन व्यक्ति के साथ ही भगवच्चरित्र-संकीर्तनात्मक वार्तालाप करते हैं। 'कथयन्तश्च मां नित्यं' इस वाक्य से यह अर्थ प्रकट होता है कि सर्वदा भगवच्चरित्र-विषयक चर्चा करना ही भक्तों का एकमात्र कर्तव्य होता है।

सर्वदा इस प्रकार के आचरण से निरन्तरप्रचलित सेवा-कथा-स्वरूपात्मक साधन-भक्ति सिद्ध होकर स्वयं फलरूप में परिणत हो जाती है। यह बात 'तया मुक्तिः' और 'तुष्यन्ति च रमन्ति च' इन दो अन्तिम पदों से विदित होता है। अर्थात् साधन-भक्ति के सिद्ध हो जाने पर भक्तों को आत्मानंद एवं आत्मरमणरूप मुक्ति (अन्यथारूप को छोड़कर स्वरूप

---

* भगवत्सेवा में समस्त इन्द्रियों का कैसा उपयोग होता है, इसका ज्ञान वल्लभाचार्य-रचित 'निरोध-लक्षण'-ग्रन्थ से सुस्पष्ट होता है।

की प्राप्ति ) हो जाती है। इसी को 'फलात्मिका साध्यभक्ति' इस नाम से शास्त्रों में कहा गया है।

भक्ति के अतिरिक्त केवल ज्ञान से ब्रह्मभाव प्राप्त करनेवाले ज्ञानियों को कश्चित् ही भगवत्कृपा द्वारा उक्त भक्ति प्राप्त होती है। यह कथन निम्न-लिखित गीता के श्लोकों से परिपुष्ट होता है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

शास्त्रों के पर्यालोचन से यह निर्विवाद है कि ब्रह्म-प्राप्ति के साधन रूप कर्म, ज्ञान तथा भक्तियोग में उत्तरोत्तर बलिष्ठता है। जिस प्रकार भगवन्निवेदनात्मक भक्ति के द्वारा कर्म फल-साधक होता है, उसी प्रकार भक्ति-सम्वलित होने पर ज्ञान भी। भक्ति-रहित केवल ज्ञान को 'तुषावघात' की उपमा दी गई है, जो केवल क्लेश-प्रद ही है।

श्रीशुकाचार्य जैसे ब्रह्मनिष्ठ, सर्वज्ञ, तत्त्व-ज्ञानी पुरुष भी जब वेदव्यास के मुख से भागवत का अध्ययन कर भगवच्चरित्र-सुधा-पान में प्रवृत्त हो गए, तो इससे तो यही दृढ होता है कि—ज्ञान की अपेक्षा भक्ति ही श्रेष्ठ तथा शीघ्र फलदायक है, और भगवान् श्रीकृष्ण ही वेद-प्रतिपादित परमतत्त्व हैं।

जो उपासक तत्तत्कल्प, तत्तत् मन्वन्तर अथवा तत्तत् युगों में प्रादुर्भूत मत्स्यादि भगवदवतारों की आराधना करते हैं, वे अपनी

दृढ निष्ठा और अनन्यभक्ति के द्वारा उसी रूप में सायुज्यभाव को प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त जो भक्त सर्ववेद-शास्त्र-पुराण-प्रतिपादित भगवान् श्रीकृष्ण की सर्वात्मभाव से आराधना करते हैं, उन्हें सारस्वतकल्पीय कृष्णावतार के भजनानंद का अनुभव ही फल-स्वरूप में प्राप्त होता है। इस कथन की पुष्टि—

> ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥
>
> देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥
>
> येषान्त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
>
> ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

इत्यादि गीता-श्लोकों से होती है। उपर्युक्त फल प्राप्त करनेवालों में अनेककल्प-पर्यन्त साधन करनेवाले अग्निकुमारों, श्रुतिरूप-गोपिकाओं एवं श्रीशुकाचार्य का ही मुख्य उल्लेख किया जाता है।

श्रुतिरूप-गोपिकाओं की कथा बृहद्वामनपुराण तथा अग्निकुमारों का वृत्तान्त कूर्मपुराण से अवगत होता है। "व्रजस्त्रीजनसम्भूतिः श्रुतिभ्यो ब्रह्मसङ्गता" इस आथर्वणी श्रुति से यह विदित है कि—अग्निकुमारों को मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र के वरदान से द्वापर में गोपिका-भाव प्राप्त होकर भजनानन्द का फल प्राप्त हुआ था।

उपर्युक्त विवेचन से यह निर्णीत होता है कि—मत्स्यादि अवतार तथा अन्य देव-समुदाय अंश-कला-विभूतिरूप और भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्ववेद-उपनिषद्-इतिहास (महाभारत)-गीता-

पुराणादिप्रतिपाद्य पूर्णब्रह्म परमात्म-स्वरूप हैं। भगवान् का चिदंश-स्वरूप जीव, उनके चरित्रात्मक श्रीभागवत तथा उपदेशात्मक गीता के द्वारा प्रतिपादित निष्काम, अनन्यभक्ति-योग के सदा अनुशीलन से शाश्वत-कल्याण प्राप्त करता है। वेदार्थ का निर्णय, उत्तरोत्तर-सन्देहवारक वेद-गीता-व्याससूत्र-समाधिभाषा (भागवत)-रूप प्रस्थानचतुष्टय की एकवाक्यता से अनायास ही होता है, इत्यादि।

भक्ति का यह सम्पूर्ण रहस्य सर्वप्रथम लोकपितामह ब्रह्मा को पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् की कृपा से ज्ञात हुआ था। इसके अनन्तर नारद ने इसे प्राप्तकर लोक-हित-कामना से प्रेरित होकर कृष्णद्वैपायन वेदव्यास को इसका उपदेश दिया और उन्होंने शुकाचार्य के हृदय में इस रहस्य-सिद्धान्त की स्थापना कर भक्ति-मार्ग को प्रचालित किया। चिरकाल के अनन्तर कलियुग के जीवों के उद्धारार्थ भगवान् श्रीगोपीजनवल्लभ ने कृपा द्वारा श्रीविष्णुस्वामी को उपदेश देकर तिरोभूत भक्ति-मार्ग का तत्त्व समझाया था। विष्णुस्वामी के अनन्तर भक्तिप्रवर्तक, सर्वतत्त्वज्ञ अनेक आचार्यों की विद्यमानता से यह मार्ग अनेक वर्षों तक यथावस्थित प्रचलित रहकर बिल्वमङ्गलाचार्य के उपरान्त लोक में तिरोभूत हो गया। अन्त में श्रीहरि की प्रेरणा से योग द्वारा सात सौ वर्षों तक सूक्ष्म शरीर से स्थित रहकर बिल्वमङ्गल ने श्रीवल्लभाचार्य को इस मार्ग का आचार्य बनाया।

अखिल भूमण्डलाचार्यचक्र-चूडामणि, जगद्गुरु, भगवद्वदना-

नलावतार श्रीवल्लभाचार्य ने अवतार लेकर शतशः शास्त्रार्थों के द्वारा शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद-मत की स्थापना की, और श्रीकृष्णदेव-राय की विद्वत्सभा में आचार्य-पद पर आसीन होकर विष्णुस्वामि-सम्प्रदाय का भार स्वीकार किया। जिसके द्वारा भक्ति-भागीरथी की विमलधारा पुनः अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होकर लोक को पावन करने लगी। श्रीवल्लभाचार्य के अनन्तर उनके पुत्र गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी ने अपने पितृचरणों के द्वारा उक्त भक्ति-मार्ग का रहस्य-ज्ञान प्राप्त कर उसका अत्यधिक विस्तार किया। सम्प्रति उनके पुत्र श्रीगिरिधरजी आदि भी अपने विद्या-वैदुष्य तथा सेवा-कथा-प्रचार से भूतल पर भक्ति-मार्ग की विजय-पताका फहराते हुए विराजमान हैं।

श्रीवल्लभाचार्य-चरणों ने भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेरणा से विष्णुस्वामिसम्प्रदाय के भक्ति-मार्ग को पाँच सिद्धान्त-रत्नों से विशेष अलंकृत किया है। वे हैं—गुरुसेवा, भागवतार्थ (सुबो-धिनी), भगवत्स्वरूप-निर्णय, भगवत्सेवा (पूजामार्गीय उपासना से विलक्षण) तथा निरपेक्षता। वास्तव में इन्हीं पाँच अमूल्य सिद्धान्तों की विशेषता से इस भक्ति-मार्ग की उत्कृष्टता तथा निर्गुणता सिद्ध होती है। उक्त पाँच विशेष-सिद्धान्त ही भक्ति के मूल-स्वरूप एवं साधक के लिये सोपान-श्रेणी हैं। विशेषकर "हरिर्यत्करिष्यति, तथैव तस्य लीला" इस प्रकार की भावनामय निरपेक्षता (निष्कामता) तो इस भक्ति (पुष्टि)-मार्ग का देदीप्यमान मुकुट-हीरक ही है।

इसप्रकार द्विवेदी गदाधरभट्ट ने स्वरचित 'संप्रदाय-प्रदीप' के प्रथम प्रकरण में जीवों के सहज-कर्तव्य भक्ति का सोपपत्तिक निर्णय कर द्वितीय प्रकरण में विष्णुस्वामी के चरित का वर्णन किया है। तृतीय प्रकरण में प्रसङ्गोपात्त सर्वसम्प्रदायों की उत्पत्ति का प्रतिपादन कर चतुर्थ में श्रीवल्लभाचार्य के जीवन-चरित का संक्षिप्त किंतु आवश्यक वर्णन किया है। प्रस्तुत पञ्चम प्रकरण में भगवान् श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व और परब्रह्म पूर्ण-पुरुषोत्तम हैं, यह शास्त्रीय प्रमाणों से विशदरीत्या विवेचन किया है।

ग्रंथकार ने उपसंहार में यत्किञ्चित् निवेदन के उपरान्त स्वकीय परिचय प्रदान करते हुए ग्रंथ की समाप्ति की है। वह निवेदन इस प्रकार है—

"परमकृपालु श्रीहरि की इच्छा से मेरे द्वारा प्रस्तुत 'सम्प्रदाय-प्रदीप' में जो कुछ सम्प्रदाय-विषयक वर्णन किया गया है, वह सत्य होवे।"

"जो महानुभाव 'अतिविमलप्रज्ञ' बनकर शास्त्रों का निर्णय एवं अपने शान्तहृदय में कुछ भी विचार किये विना ही साकार शुद्धब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति की अशास्त्रीयता, भगवत्कृत प्रपञ्च की असत्यता, जीव की व्यापकता और ब्रह्म की निराकारता का समर्थन करते हुए वेद-विपरीत सिद्धान्त का प्रति-पादन करते हैं, उनसे कुछ सुनने, कुछ विवाद करने एवं कुछ कहने की मुझे ( गदाधर को ) आवश्यकता नहीं है।"

"अर्बुदाचल में उत्पन्न द्विवेदी गदाधर ने वृन्दावन में राधिका-प्राणपति भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति से अपने चित्त को पवित्र करते हुए यथामति 'सम्प्रदाय-प्रदीप' की रचना की है। अतः उनके चरणानुग्रह से इस कार्य में कृतकृत्यता प्राप्त होवे।"

"अर्बुदाचल ( आबू पहाड़ ) से आग्नेय दिशा में 'अघोर' गिरि के समीप एकलिङ्ग-नामक शिवक्षेत्र से नैर्ऋत्य की ओर श्रीश्याम-सुन्दर भगवान् का एक प्रसिद्ध मन्दिर है। यहीं पर श्रीवल्लभाचार्य की सम्प्रदाय प्रणाली से भगवत्सेवा-कथा-प्रवचनादि करते हुए मेरे ( गदाधर के ) पुत्र-पौत्र रामदत्त आदि निवास करते हैं, वे सब भगवदनुकम्पा से सर्वदा सुख प्राप्त करें। श्रीमद्वल्लभनन्दन गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथजी सदा कृपा-दृष्टि-वृष्टि करते हुए मेरे वंश को स्वकीय-सेवा में स्वीकार करते रहें।"

इति शुभम्

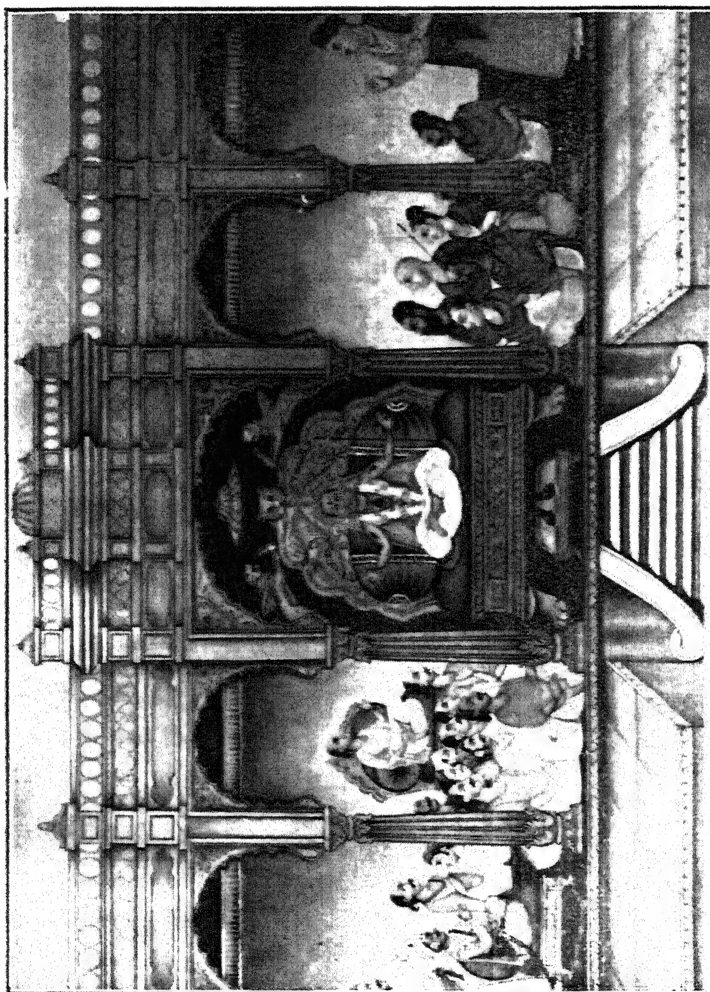
श्रीमन्नृपति-विक्रमादित्य-राज्यसंवत् १६१० में वृन्दावनस्थ श्रीगोविन्ददेव के सान्निध्य में द्विवेदी गदाधर ने सम्प्रदाय-प्रदीप की रचना समाप्त की।

'सम्प्रदाय-प्रदीप' का 'श्रीकृष्णाद्यब्रह्म-निर्णय'

नामक

पञ्चम प्रकरण का अनुवाद

समाप्त



विद्यानगर-शास्त्रार्थ.

संग्या आर्ट प्रि. अमदावाद.

# सम्प्रदायप्रदीपः

ग्रन्थकर्ता

पं० गदाधरदास द्विवेदी

———

रचना-काल—

सं० १६१० । वृन्दावनम्

॥ श्रीहरिः ॥

# सम्प्रदायप्रदीपः

## प्रथमं प्रकरणम्

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः

योऽनुग्रहार्थं श्रुतिगोपिकानां
गिरीन्द्रधर्ताऽजनि रासमध्ये ।
बभूव भूयः स कलौ कलेशः
स्वाम्यन्तविष्ण्वादिपदैकनामा ॥ १ ॥

स एव भूयोऽजनि वल्लभाख्यः
स्वकीयमाहात्म्यमवादि येन ।
नत्वा त्रिरूपं तमहं करोमि—
तत्सम्प्रदायक्रममुक्तपूर्वम् ॥ २ ॥

श्रीवल्लभस्या[1]त्मजविट्ठलेशे—
प्रशासति प्राणिहितैकहेतौ[2] ।
मार्गं तदीयं किल तस्य शिष्यो—
गदाभिधो वक्ति यथामतीदम् ॥ ३ ॥

---

१—आत्मया घ, ङ, च । २—हेतोः ख ।

बर्हापीडं मौलौ बिभ्रद्वंशीनादानातन्वानः ।
नानाकल्पः श्रीसम्पन्नो गोपस्त्रीभिः संवीतः ॥ ४ ॥
नेत्रानन्दं कुर्वन्कृष्ण ! त्वं चेदस्मान्वीक्षेथाः ।
सर्वे कामाः सम्पद्येरन्नस्माकं हृद्यासीनाः ॥ ५ ॥

तत्रादौ[1] पलादिकालमानम् । गुर्वक्षरषष्ट्या एकं पलमुच्यते । पलषष्ट्यैका घटी[2] भवति । घटीषष्ट्याऽहोरात्रं मनुष्याणाम् । त्रिंशद्भिरहोरात्रैर्मासः । मासैर्द्वादशभिर्वर्षम् । वर्षाणां सप्तदशलक्षैरष्टाविंशतिसहस्राधिकैः[3] कृतं भवति । द्वादशलक्षैः षण्णवतिसहस्राधिकैस्त्रेता । अष्टलक्षैश्चतुष्षष्टिसहस्राधिकैर्द्वापरः । चतुर्लक्षैर्द्वात्रिंशत्सहस्राधिकैः कलिर्भवति । एवं चतुर्युगम् । एकसप्ततिचतुर्युगैर्मन्वन्तर[4]माहुः[5] । चतुर्दशमन्वन्तरैर्ब्रह्मणो दिनम्[6] । तावत्येव रात्रिः । एतादृगहोरात्रैस्त्रिंशद्भिर्ब्रह्मणो मासः । मासैर्द्वादशभिर्वर्षम् । एवंविधवर्षशतं परमायुर्ब्रह्मणः ।

यथोक्तं ज्योतिःशास्त्रे—

"शतायुः शतानन्द एवं प्रदिष्टः
तदायुर्महाकल्प इत्युक्तमाद्यैः ।
अतोऽनादिमानेष कालस्ततोऽहं
न वेद्म्यत्र पद्मोद्भवा ये गतास्तान् ।"

१—तत्रादौ पलादिकालमानम् इति पाठः 'बर्हापीडं०' इति श्लोकात्पूर्वम् क, ग, घ, ङ, च । २—घटिका ङ, च । ३—( १७२८००० ) इत्याद्यङ्कलेखनिर्देशो विशेषः, तथाग्रेऽपि, घ, ङ । ४—मन्वन्तरमेकं ञ । ५—आह क, ग । ६—उच्यते इति विशेषः ट । स्यादिति विशेषः ञ ।

ब्रह्मणो वर्षशतेन मनुष्याणां द्विपरार्द्धवर्षाणि भवन्ति । परार्द्ध-संख्या गणकशास्त्रे—

"एकं दश शतमस्मात्सहस्रमयुतं ततः परं लक्षम् ।
प्रयुतं कोटिमथार्बुदमब्जं खर्वं निखर्वं च तस्मात् ॥
महासरोजं शङ्कुः सरितांपतिस्ततस्त्वन्त्यम् ।
मध्यं परार्द्धमाहुर्यथोत्तरं दशगुणं तज्ज्ञाः ॥"

तत्र चतुर्विधप्रलयः । यथोक्तं द्वादशस्कन्धे श्रीभागवते[१]—

"नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिको लयः ।
आत्यन्तिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशी ॥"

( अ० ४ श्लो० ३८ )

नित्यप्रलयलक्षणम्—

"नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परन्तप !
उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः[२] सम्प्रचक्षते ॥"

( अ० ४ श्लो० ३५ )

नैमित्तिकलक्षणम्—

"चतुर्युगसहस्रन्तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते ।
स कल्पो यत्र मनवश्चतुर्दश विशाम्पते !

( अ० ४ श्लो० २ )

तदन्ते प्रलयस्तावान्ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता ।
त्रयो[३] लोका इमे यत्र कल्पन्ते प्रलयाय वै ॥ ३ ॥

---

१—श्रीभागवते इति नास्ति ट. । २—ज्ञानं प्र० क. ग. । ३—प्रायो घ. ङ. ।

एवं नैमित्तिकः प्रोक्तो प्रलयो यत्र विश्वसृक्।
शेतेऽनन्तासनो विश्वमात्मसात्कृत्य चात्मभूः॥ ४॥"

अथ [1] प्राकृतिकः—

"द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै॥ ५॥
एष प्राकृतिको राजन्! प्रलयो यत्र लीयते।
आण्डकोशस्तु सङ्घातो विघात उपसादिते॥ ६॥"

अथात्यन्तिकलक्षणम् [2]—

"यदैवमेतेन विवेकहेतिना मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम्।
छित्त्वाऽच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते, तमाहुरात्यन्तिकमङ्गसंप्लवम् [3]॥

(अ० ४ श्लो० ३४)

ब्रह्मणश्चैकवर्षमध्ये त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि भवन्ति प्रलयाः। नैमित्तिक [4] दैनन्दिननामानः प्रतिरात्रम्। सप्तम [5] पातालादारभ्य महर्लोकं यावद् ब्रह्मणः प्रतिदिनं पुनः [6] पुनः सुरासुरनरादीनां सृष्टिर्भवति। यथोक्तम्—

"तथावर्तमानस्य कस्यायुषोद्ध
गतं सार्द्धवर्षाष्टकं केचिदूचुः॥"

---

१—यथा घ. ङ.। २—अथात्यन्तिकः घ. ङ. च. ट.। आत्यन्तिक-प्रलयलक्षणं ख.। ३—संभवं ङ.। संस्तवं घ.। ४—नैमित्तिको दैनन्दिनमान घ. ङ. च.। नैमित्तिको, दैवदिनमानः ट.। ५—सप्त क. ख. ग.। ६—पुनः पुनः इति नास्ति ट.।

ब्रह्मणः स्वकीयमानेन ।—अथ[1] पञ्चाशद्वर्षाणि गतानि, अर्धं-वर्षञ्चायुरतिक्रान्तम् । अयंवर्षस्यान्तिमदिवसस्य श्वेतवाराह-कल्प इति संज्ञा ।

ब्रह्मणः प्रथमवर्षजन्मदिनादारभ्य ब्राह्मपाद्मादयो बहवः कल्पा व्यतीताः, तत्केन[2] सङ्ख्यातुं शक्यते ?

केचित्कल्पाः सात्त्विकाः, केचिद्राजसाः, केचित्तामसाः। सात्त्विकेषु विष्णोः सृष्टिर्भवति[3], राजसेषु ब्रह्मणः[4], तामसेषु रुद्रात्[5] । कदाचिद्भगवत्या रवेश्च । पुराणेष्वेवमनेकधा दृश्यते, तन्नासौ[6] विरोधः । तदस्मिन्[7] श्वेतवाराहकल्पाख्ये ब्रह्मणो दिवसे षण्मन्वन्तराणि व्यतीतानि[8]। (१) स्वायम्भुवः, (२) स्वारोचिषः, (३) उत्तमः, (४) तामसः, (५) रैवतः, (६) चाक्षुषः। अतीताः षडेते मनवः। वैवस्वतो वर्तमानः सप्तमः। अथ भविष्याः—(८) सावर्णिः, (९) दक्षसावर्णिः, (१०) ब्रह्म-सावर्णिः, (११) धर्मसावर्णिः, (१२) रुद्रसावर्णिः, (१३) देवसावर्णिः[9], (१४) इन्द्रसावर्णिः ।

तपः सत्यं दया दानमिति चतुष्पाद्धर्मः कृतयुगे बभूव, त्रेतायां त्रिपात्, द्वापरे द्विपात्, कलावेकपात् । ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति वर्णाः । ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थयतय इत्याश्रमाः । एषां

---

१—अष्ट ञ. । २—तेषां इति विशेषः ञ. । ततः ट. । ३—भवति इति नास्ति क. ग. छ. । ४—ब्रह्मणः सृष्टि ख. ट. ५—रुद्रात्तामसेषु क. ख. ञ. ट. । ६—तस्मान्नासौ च. । ७—तत् इति नास्ति घ, ङ. च. । ८—अतीतानि घ. ङ. च. ट. । ९—वेदसावर्णिः क. ख. ग. ।

नित्यनैमित्तिककाम्यादिभेदेन धर्मो वेदेनोक्तः । अनुयुगमन्वन्तरं भगवदवतारो भवति । प्रतिमन्वन्तरं पृथगिन्द्राः, सप्त ऋषयश्च[१], इन्द्रानुयायिनो देवाश्च, मनुपुत्राश्च राजानः । वेदादिशास्त्रप्रवर्तका ऋषयः, त्रिलोकी शास्तारश्चेन्द्राः । अधर्मव्रातको भगवदवतारः । दण्डनीत्या धर्मपालका राजानः । अनुमन्वन्तरं प्रतिद्वापरमेकसप्ततिर्वेदव्यासा भवन्ति ।

अस्मिञ्छ्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे द्वापरे[२] पराशरात्मजः सत्यवतीनन्दनः कृष्णद्वैपायनो बभूव । येन वेदा व्यस्ताः, कृतञ्च वेदान्तशास्त्रम्, महाभारतञ्च श्रीभागवतञ्च । तस्माद्वेदव्यासमतमाश्रित्य द्वापरत इदानीन्तना अपि धर्मार्थकाममोक्षहरिभक्तिरिति पुरुषार्थपञ्चकं प्रवर्तयन्ति ।

कृतादिद्वापरान्तं धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रवृत्तिः । कलौ हरिभक्तिरेव पुरुषार्थः । धर्मश्चैकपात् । कृते त्रेतायामन्येषामृषीणां मतमाश्रित्य धर्मादय आसन्, अन्येषामवताराणां मत्स्य[३]नृसिंहरामादीनां भक्तिः कलौ कृष्णभक्तिरेव, वेदव्यासस्याभीष्टदैवतत्वात् ।

"कलौ देवो महेश्वरः," "कलौ चण्डीविनायकौ", "कलौ रामेति कीर्तनम्" इति पुराणेषु यद्दृश्यते, तत्सत्यम् । परं नायं कलिः, अन्ये ते कलयो भूता भविष्या वा ।

---

१—च इति नास्ति क. ख. ग. छ. । २—अष्टाविंशतितमे द्वापरे इति विशेषः क. ख. ग. ज. झ. ट. । ३—मत्स्यकच्छपनृसिंह ख. ग. छ. च. छ. ।

श्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरेऽष्टाविंशतितम[1]कलिविषयो ब्रह्माण्डपुराणोक्तो द्रष्टव्यः—

"कलौ दशसहस्रेण विष्णुस्त्यक्ष्यति मेदिनीम् ।
तदर्द्धे[2] जाह्नवीतोयं तदर्द्धे सर्व[3]देवताः ॥"

कृतादिद्वापरान्तं ये वेदोक्तवर्णाश्रमेतरधर्मपरा बभूवुः तेषां धर्मस्त्रिधा फले[4] भिन्नः । ये स्वधर्मदोग्धारः स्वर्गाद्यभिलाषिणः, कलेरादितः समाप्तिपर्यन्तं स्वर्गसुखं भोक्ष्यन्ति । ये मुमुक्षवस्ते निष्काम[5]स्वधर्मतो वैराग्यपूर्वकज्ञानयोगेन[6] साङ्ख्यवेदान्तयोग-शास्त्रवैष्णवशैवोक्तमार्गेण नानाविधं मोक्षं प्राप्ताः । येत्वेतत्क-लेर्गुणज्ञास्ते[7] कलेराद्यदशाब्दसहस्रवर्षमध्येऽवतारमिच्छन्ति । यथोक्तं श्रीभागवत एकादशस्कन्धे—

"कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः ।
यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते ॥
(अ० ५ श्लो० ३६)

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्य्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥ ५२ ॥
कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत् ॥ ५१ ॥"
(स्कं० १२ अ० ३)

---

१—तमे कलौ घ. ङ. च. छ. ज. ञ. ट । २—तदर्धं ख. च. छ. । ३—ग्राम च. छ. । ४—फलं भिन्नं घ. ङ. च. । फलं च भिन्नं छ. । ५—निष्कामाः ज. । ६—योगे क. ग. । ७-८—ते दश इति नास्ति क. ख. ग. ज. ।

तत्रैव ( भा० ११ स्कं०, ५ अ० )

"कृतादिषु प्रजा राजन्कलाविच्छन्ति सम्भवम् ।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ॥ ३८ ॥
क्वचित्क्वचिन्महाराज ! द्रविडेषु च भूरिशः ।
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी ॥ ३९ ॥
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी ।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर ! ॥
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः ॥ ४० ॥"

वेदोक्तयज्ञभागभुजो देवाः, ब्रह्मरुद्रशक्तिगणपतिवस्वा१-दित्यसाध्यविश्वेदेवादयो ब्रह्माण्डपुराणोक्तकालं यावत्तिष्ठन्ति । कलौ गङ्गा२ च, उत्कलदेशे सागरतीरे३ पुरुषोत्तमक्षेत्रे श्रीजगन्नाथरूपेण विष्णुश्च । तावत्कालं कलौ वैष्णवा अवतरन्ति । श्रीकृष्णादन्यदेवताभक्तस्य४ ततः कलौ सिद्धिर्न भवति । शून्य५-मन्दिरं प्राघूर्णिकवत्६ । धर्मस्य७ सिद्धिस्तादृशी न भवति, धर्मस्यैकपादत्वात्८ । तस्माद्यथोक्तं श्रीवल्लभैरेव९—

"सर्वमार्गेषु१० नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाखण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥"
( कृष्णाश्रये )

---

१—गणपत्यादित्य घ. ङ च. । २—गङ्गा भागीरथी च । ३—सागरतीरे इति नास्ति ख । सिन्धुतीरे घ. ङ. च. छ. । ४—भक्तानां छ. । ५—शून्यं घ. ङ. च. । ६—प्राघूर्णवत् ख. । ७—धर्मस्येत्यारभ्य न भवति—इत्यन्तं नास्ति ञ. ट । ८—पदत्वात् क. । ९—श्रीवल्लभेन क. ख. ग. ञ. ट. । १०—धर्मेषु क. ख. ग. ञ ।

जनैकालका म्लेच्छकौलिकादयो[१] बहवः पाखण्डा वेदमार्गाद्बहिः कलौ भवन्ति निरयदाः। यथोक्तं विष्णुपुराणे[२] धर्मोत्तरे—

"कृतादिद्वापरान्तञ्च जन्मभाजो हि जन्तवः।
भवन्ति जन्मभाजस्ते यावत्कालं कलिर्व्रजेत्॥
भवन्ति ये कलौ जीवास्ते वै निरयगामिनः।
कृतादिद्वापरान्तं वै कालं नास्त्यत्र संशयः॥"

कलेरादौ दशसहस्रवर्षमध्येऽवतीर्णा त्रिधा जन्तवो भवन्ति।

"कर्मणा मनसा वाचा श्रीकृष्णं सम्भजन्ति ये[३]।
सम्प्रदाया[४]द्गुरोर्वाक्यात्ते विष्णोर्न कलेर्नराः॥"

इति स्कन्दवाक्यात्।

"वेदोक्तधर्महीनत्वात्सर्वे निरयगामिनः।
अनाश्रित्य हरिं जीवाः कलौ पाखण्डसङ्कुले॥
केचिद्विष्णोः पदं यान्ति धर्मस्यैकपदाश्रये॥"

स्वर्गं बहूनां[५] मध्ये कोऽपि यास्यति, अन्ये सर्वेऽपि निरयगामिनः। इति त्रैविध्यमुक्तम्। यथोक्तं[६] ब्रह्मवैवर्त्ते—

"यवाकारः कलिर्ज्ञेयः कालरूपेण केवलम्।
सपुच्छस्तु यवो ज्ञेयः पुच्छं शुष्क[७]मिति स्मृतम्॥ १॥

१—लौकिकादयो ख. घ. ङ. च. छ. ट.। २—विष्णुधर्मोत्तरे क. ख. ग. ट.। ३—हि क. ख. ग.। ४—दायगुरोः ख. घ. ज. ट. दायिगुरोः ङ. च. छ. ञ.। ५—जीवानां इति विशेषः छ.। ६—यथोक्तं इति नास्ति घ. ङ. छ.। ७—शूक क. ग.।

आद्यं दशसहस्रं तु[1] यवरूपं प्रकीर्तितम् ।
तदूर्ध्वं पुच्छसंज्ञं स्यात्कलिकालं तु नीरसम् ॥ २ ॥
तुषाधिकोऽल्पसत्त्वश्च ह्यादावन्ते यवो भवेत् ।
सत्त्वाधिको मध्यभागे पुच्छे सारांशवर्जितः ॥ ३ ॥
एवमादिकलिदु ष्टो धर्मराजो दिवङ्गतः ।
गतः स कृष्णो धर्मस्य ग्लानिरासीत्क्रमात्ततः ॥ ४ ॥
पञ्चवर्षसहस्रान्तमेवं मध्यं प्रकीर्तितम् ।
सधर्मो[2] भगवद्भक्तिस्ततः कालेन वर्द्धते ॥ ५ ॥
ततो वर्षायुतस्यान्तं यवस्यान्तं वदन्ति हि ।
तत्र भक्तिश्च धर्मश्च क्रमादन्तं व्रजिष्यति ॥ ६ ॥
पुष्करादीनि[3] तीर्थानि गङ्गाद्याः सरितस्तथा ।
सप्तपुर्यश्च शैलेन्द्रा अगम्या मानुषैस्ततः ॥ ७ ॥
भविष्यन्ति कलौ घोरे ह्याद्यवर्षायुतात्परम् ।
रक्षांसि तेषु स्थास्यन्ति दुष्टश्वापदरूपतः ॥ ८ ॥"

एवं श्रीमन्नृपतियुधिष्ठिर-राज्यसमयाद्दशसहस्रवर्षपर्यन्तं कलौ भागवता भवन्तीति[4] सिद्धम् ।

ननु वर्णाश्रमोक्त-नित्यनैमित्तिकविधानशून्ये कलौ भागवतानां

---

१—सहस्रेषु ख. । २—स्वधर्मो घ. ङ. च. छ. । ३—राद्यानि घ. ङ. छ. । ४—भविष्यन्तीति ज. ।

तदकरणे प्रत्यवायो न स्यात्, वा भविष्यति ? न स्यादिति, श्रीभागवत एकादशस्कन्धे कलिविषये वाक्यानि—

"देवर्षिभूतात्मनृणां पितॄणां[1]
न किङ्करो नायमृणी च राजन्!
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम् ॥"
(अ० ५ श्लो० ४१)

तत्रैव[2]—

"तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥"

पुनश्च—

"ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वाऽनपेक्षकः ।
सलिङ्गानाश्रमाँस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥"

बुद्धिपूर्वकं[3] निषिद्धाचरणं नैवाचरन्ति भागवताः, पर[4]मीश्वरेच्छया । निषिद्धाचरण ईश्वरशरणं गतानामीश्वर एव प्रत्यवायं निवारयति । यथोक्तं भगवद्गीतासु—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

---

१—नृणाञ्च किङ्करो, न विद्यते नाय० घ. ङ. च. । २—तत्रैवं ङ ।
३—बुद्धिपूर्वं क. ग. घ, ङ. च. । ४—परन्तु ख. ब. ङ. च. छ. ज. झ. ट. ।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत !
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥"
(अ० १८।६२)

मत्तोऽन्य[१]मीश्वरं ज्ञास्यतीति मत्वा पुनर्भगवतोक्तम्—

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज[२] ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

तत्रैव च—

"अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः" ॥ (९-३०)

पुनरेकादशस्कन्धे—

"स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य[३]
त्यक्त्वाऽन्यभावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥ ४२ ॥"
(भा० स्कं० ११ अ० ५)

तत्रैव च—

"यदि कुर्यात्प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम् ।
योगेनैव दहेदंहो नान्यद्यत्नं कदाचन ॥"

---

१—ततोऽन्य घ. ङ. च. छ. । २—व्रजेत् क. ग. । ३—परस्य ख. ।

योगास्त्रयो ज्ञानकर्मभक्त्याख्याः । अन्यद्यत्नं प्रायश्चित्तादि ।

इति श्रीसम्प्रदायप्रदीपे[1] विष्णुस्वामिस्नेहपात्रे[2]
बिल्वमङ्गलावर्त्तौ, श्रीवल्लभदीपशिखे,
तन्मार्गपथिकजन-तमोनिवृत्तौ
प्रथमं प्रकरणम्

---

१—दीपके, श्रीवल्लभदीपशिखे, तन्मार्गकथनंनाम प्रथमं॰ घ. ङ. च. छ. । २—सुपात्रे क. ।

# द्वितीयं प्रकरणम्

उक्तञ्च—

> उत्पन्ना द्राविडे भक्तिर्वृद्धिं कर्णाटके गता।
> क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे प्रलयं गता ॥ १ ॥

युधिष्ठिरराज्य-समयात्किञ्चित्कलौ गते द्राविडेषु[1] कश्चिद्राजा बभूव। येन धर्मेणाखिलं भारतवर्षं वशीकृतम्। तस्य राज्ञः सकल-भारधौरेयः सचिवो ब्राह्मणो बभूव। तस्य ब्राह्मणस्यात्मजो विष्णु-स्वाम्यासीत्। स च श्रीशुकवागमृताब्धीन्दोः श्रीगोपीजनवल्लभस्यांश एव, 'यो यदंशः स तं भजेत्' इति वाक्यात्। रूपेण[2] कामः, वेदार्थविद्यया चतुर्मुखः, बुद्ध्या च बृहस्पतिः, धन-वान्यथा धनदः, भोगवान्यथा पुरन्दरः। किमधिकम्? वेदोपवेदेति-हास-पुराणोपपुराण-स्मृत्युपस्मृति - वेदाङ्गसाङ्ख्ययोगवेदान्त-मीमांसकवैष्णवशैवतन्त्रादिवेत्ता, यथा कृष्णद्वैपायनः, साहित्य-वात्स्यायनादिषु च।

यथोक्तं पाद्मे—

> "यदा भागवती सृष्टिः क्षितौ भवति वै तदा।
> अंशेन भगवान्विष्णुः स्वात्मानं सृजति स्वयम्[3] ॥

---

१—विक्रमपूर्वजः—इति विशेषः ज.। २—साक्षाद्रूपेण काम इव प. कृ. र.। ३—प्रभुः ज.।

तमाश्रित्य जनाः सर्वे भक्तिभाजो भवन्ति हि।
मेढीस्तम्भे बलीवर्दा यथाश्रित्य[१] भ्रमन्ति च॥
चत्वारस्ते कलौ भाव्याः सम्प्रदायप्रवर्तकाः।
भविष्यन्ति प्रसिद्धास्ते ह्युत्कले पुरुषोत्तमात्॥"

तस्य श्रीविष्णुस्वामिनः कदाचिन्मनसि विचारः समजनि, कथमहं पितुरधिको गुणैर्भवेयम्? राजसेवया भविष्यामि? सम्प्रति भूमण्डले यादृशोऽस्मद्देशे राजाऽस्ति तादृशोऽन्यो नास्ति। सचिवेषु राज्ञः सम[२]मस्मत्पिताऽनुग्रहपात्रं यथास्ति, तादृशः सचिवोऽन्यो नास्ति। अतः सेवार्थं देवेषु कोऽपि मृग्यः। तर्हि राजराजो धनदः सेव्यः स्यात्? सोऽपीन्द्रानुयायी, तर्हीन्द्रः सेव्यः? सोऽपि[३] रुद्रानुवर्ती, अन्येऽपि यमाग्निवरुणादयश्च। तर्हि रुद्रः सेव्यः? तस्याऽपि पितृत्वेन[४] मान्यत्वे ब्रह्माऽस्ति। 'तमब्रवीन्महादेवोऽसि' इति श्रुतेः। तर्हि ब्रह्मैवेश्वरः सेव्यश्च? ब्रह्माऽपि श्रीनारायणनाभिपद्म-लब्धजन्मा श्रूयते। तर्हि नारायण एव सर्वेश्वरेश्वरः[५] सेव्य इति सिद्धम्। सोऽपि मत्स्याद्यवतारैरवतीर्य स्वात्मनो[६]ऽन्यमीश्वरं मन्यमान इव जपन्[७] यजन् भजन् ध्यायञ्छ्रूयते च पुराणेषु परतन्त्र इव। अतोऽहं[८] सर्वतोधिकः कं सर्वे[९]श्वरे-

---

१—यदाश्रित्य क. ग.। २—स मम पिता ञ.। ३—इन्द्रोऽपि ञातिरिक्तेषु। ४—पितृत्वे क. ग. ञ. ट.। पितृत्वे ब्रह्मा घ. छ. ञ.। ५—सर्वेश्वर इति सिद्धम् घ. छ. ञ. ट.। ६—आत्मानमीश्वरं ख. ञ.। ७—जपन्भजन् क. ग. ञ.। ८—अतः सर्वतोऽधिकोऽहं क. ग. ज. ञ. ट.। ९—कमीश्वरेश्वरम् घ. ङ. छ.।

श्वरमाराद्धय भविष्यामीति निश्चयं न जगाम । पुनःपुनश्च विचारवानभूत् ।

तत्र१ वेदमूलशास्त्रेषु गरीयांसो वेदाः, वेदेष्वुपनिषदः, उपनिषत्सु बृहदारण्यकम् ।

"माध्यन्दिनीति या शाखा सर्वासाधारणा स्मृता" इति स्मृतेः ।

अतो यजुर्वेदस्योपनिषदि यः सर्वेश्वर इत्युक्तः, स मे प्रभुः सेव्यश्च ।

"स वा अयमात्मा सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति, यदिदं किञ्च, न साधुना कर्मणाभूयान्नो वा कनीयान्, एष भूताधिपतिरेष लोकेश्वर एष लोकपालः स सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय"२ ।

इति सत्यकामं, सत्यसङ्कल्पं, सर्वज्ञं सर्वगं३मचिन्त्यानन्तशक्तिं, भक्तवत्सलं, कृतज्ञं, जगदीश्वरं सर्वा अप्युपनिषदो वदन्ति । परन्तु तस्य नामरूपादि न ज्ञायते, कथं तं भजामि ? इत्यमुह्यत । राजसेवा महाराजोपचारेणैव भवति, अत्रोपनिषदुक्ते सर्वेश्वरे नामरूपाभावे कथं४ भक्तिः कीर्तिश्च ?

भवतु नाम, यथा महाराज५सेवकैर्महाराजोपचारविधिना महाराजः सेव्यते, तथाऽदृष्टरूपमपि जगदीश्वरं परिचरिष्यामि । सर्वज्ञो भक्तवत्सलः कृपालुः श्रुतौ पठितः, अतो दर्शयिष्यति६

---

१—तत्र इति नास्ति क. ख. ग. ज. ञ. ट. । २—असंभवाय ब. । ३—सर्वरूपम् घ. च. छ. । ४—का, घ. च. छ. ट. । ५—महाराज कुमारः सेव्यते—इत्येव पाठः ब. । ६—दर्शयति घ. च. छ. ।

स्वरूपम् । इति हृदि१ निश्चित्य भजनारम्भं कृतवान् । मत्स्वामिनोऽर्थे गृहारामताम्बूलजलाशय२शय्या-सिंहासनछत्रचामर-पादुकाचन्दनकर्पूरकस्तूरीसुगन्धागुरुजलपानपात्रधूपदीपनीराजन-शयनभोजनविहारसभास्थान-रथनरवाहनाश्वगजजवनिकावितानक्रीडोपस्करादि३ सर्वमिति चकार । अरुणोदयादारभ्य क्रमेण महाराजसेवक४न्यायेन, प्रतिबोध५दन्तधावनकेशमार्जनादि६महाभोगपर्यन्तमनुदिनं चकार७ । परं भगवान्न गृह्णाति । अगृहीते भोजनादौ पश्चात्तापं चकार । पश्चादिति निश्चितवान् । अहो ! यावन्मत्कृतां सेवां साक्षाद्भूत्वा न गृह्णाति तावदहं न भोक्ष्ये, न पयः पास्यामि ।

अनुदिनं भगवदर्थं यद्भोजनादिकल्पितं भगवता न गृहीतं जलाशये क्षिपति स्म । एवं षड्दिनान्यतीतानि । कृतेऽस्थिषु भग्नेषु प्राणत्यागः, त्रेतायां मांसाद्यगमे, द्वापरे रुधिरक्षये, कलावन्नाद्यभावे । एवं कलिकलेवरत्वात्क्षुत्तृड्भ्यां शरीरं ग्लानिमवाप । ततः स्वगतमिदमाह—

अहो ! श्रुतिवाक्यप्रामाण्येनेश्वरोऽस्त्येव सर्वज्ञः कृपालुः९ पठितः, स १० कथं मत्कृतां सेवां न गृह्णाति ? ज्ञातं कोपि ११ मयि

---

१—हृदीति निश्चित्य क. ख. ग. ज. ट. । २—ताम्बूलासन घ. । ३—स्करादि ख. घ. च. । ४—सेवकवद्भक्त्याशयेन ख. । ५—प्रतिबोध्य घ. । ६—केशसंमार्जन, ख. ञ. । ७—करोति स्म, ख. ञ. । ८—मांसाद्यपगमे ञ. मांसविगमे ज. । ९—भक्तवत्सलः इत्यधिकः ख. । १०—स. इति नास्ति आतिरिक्तेषु ञ. । ११—मयि कोऽपि ख ।

शारीरो दोषो वर्तते। अतः परं १ क्लेशेनाऽपि दिनमेकं सेवां करोमि २। यदि भगवान्न गृह्णाति तदाग्निप्रवेशं करिष्यामीति निश्चित्य सप्तमे दिवसे भजनं कर्तुमारब्धम्। यथास्थानं सेवा-साधनानि स्थापयित्वा३ कपाटे पिधाय बहिः स्थितः। ततो गृहान्त-र्भगवानाविर्बभूव ४ सेवकजनेन सह। शृङ्गारस्थाने शृङ्गार-साधनानि स्वीकृतानि, ततो भोजनस्थाने भोजनं कृतं, शयन-स्थाने५ शयनमपि कृतम् ६। बहिःस्थितेन विष्णुस्वामिना ज्ञातं। द्वारमुद्घाट्य गृहान्तःसमागतो भगवन्तं ददर्श।

सन्तं वयसि कैशोरे द्विभुजं पीतवाससम्।<br>
नवीननीरदश्यामं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ॥ १ ॥<br>
रुचिरोष्ठ७ पुटन्यस्तवेणुवादनतत्परम्।<br>
शिखिपिच्छावतंसेन शोभितं वनमालया ॥ २ ॥<br>
हारकङ्कणकेयूरमुद्रिकाभिरलङ्कृतम्।<br>
सुन्दरं निम्ननाभिञ्च हेममेखलया युतम् ॥ ३ ॥<br>
स्फुरन्८नूपुरझङ्कारं वीरं श्रीरसिकं मुदा।<br>
कल्पित९ द्व्यष्टशृङ्गारं रसमूर्तिं मनोरमम् ॥ ४ ॥<br>
पीतोत्तरीयसंवीतं त्रिभङ्गि१०ललिताकृतिम्।<br>
गल्ल११मण्डलसंसर्गिलसत्काञ्चनकुण्डलम् ॥ ५ ॥

---

१—परमक्लेशेन ब.। २—करिष्यामि ख.। ३—स उपस्थाप्य ब.। ४—आविर्भूतः ब.। ५—शयनस्थाने इति नास्ति क. ख. ग. ब.। ६—स्वीकृतं म.। ७—रौष्ठ ख.। ८—स्फुट नूपुर, ज.। ९—काञ्ची-नाथट, ट.। १०—त्रिभङ्ग, ब. म. ट.। ११—गण्ड ख. ब.।

तुङ्गगुल्फारुणनखव्रातदीधितिभिश्चितम्१ ।
पाणिपादतले पद्मपत्रारुणतयाऽन्वितम् ॥ ६ ॥
२सव्यं दक्षिणतो देव्यौ तप्तकाञ्चनसन्निभे ।
वयोरूपगुणोपेते दृष्ट्वोवाच मुदान्वितः ॥ ७ ॥

भगवन्! शास्त्रदृष्ट्या त्वां सगुणं जाने। मयोपनिषदुक्तसर्वेश्वरस्यार्थे या सेवा कल्पिता, असौ निर्गुणः। त्वया स्वीकृता मत्कृता सेवा? वैदिकतान्त्रिक३मार्गेण ये त्वामीदृग्विधरूपं भजन्ति न मम तत्र सर्वेश्वरत्व४बुद्धिः। अत्र सन्देहनिराकरणं५ त्वयैव भवति। संशयं छिन्धि, मां शाधि६, शास्त्रसम्मत्याऽऽत्मानं प्रमाणीकुरु, पश्चात्त्वां प्रणमामि।

श्रीभगवानुवाच—सौम्य! मत्तोऽन्य७ ईश्वरस्तव कोऽप्यस्ति? तेन त्वत्कृता सेवा कथं न गृहीता, मया चौर८धर्मेण गृहीता चेत्तर्हि९ कथं न रक्षिता। अद्यापि तं विज्ञापय, यो मे दण्डं दास्यति।

इति श्रुत्वा पुनर्भगवन्तमाह—देव! सर्वात्मना त्वां प्रपन्नोऽस्मि। त्वत्कृपया मदीयः संशयश्छिन्नः। त्वत्तोऽन्य ईश्वरो नास्ति। शास्त्रसम्मत्या स्वकीयमाहात्म्यं कथय।

---

१—निश्चितं—घ. छ. ट.। भिवृंतम् ख. ञ.। २—श्लोकोऽयं नास्ति—क. ग.। ३—तान्त्र—घ. च.। तन्त्र—छ.। ४—सर्वेश्वरबुद्धिः—नातिरिक्तेषु। ५—सन्देहनिराकरणे त्वयैव सन्देहनिवृत्तिः ट.। ६—मां शाधि इति नास्ति—घ. ङ. च. छ. ञ. ट.। ७—मत्त ईश्वरस्तु न कोप्यस्ति—घ. ङ. च. छ.। ८—चौर्य घ. ङ. च. छ.। ९—तर्हि इति नास्ति छ.।

श्रीभगवानाह[1]—सौम्य ![2] सर्वेश्वरेश्वरो[3]ऽहमस्मि । ताव-दुपनिषत्सम्मत्या श्रृणु—

"कृष्णोऽयं साक्षाद्ब्रह्म" इति श्रुतेः । तथाथर्वणोपनिषदि[4]—"कृष्णो वै परमं दैवतं", "गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति", "श्रीगोपीजन-वल्लभो भुवनानि दध्रे" इति । तत्रैव च—"अनेजदेकं मनसो जवीयो नैतद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शन्", "तत्कृष्ण एव परो देवः, तं ध्यायेत्तं नमेत्तं भजेदिति श्रुतेः"

अन्यच्च—

"कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥"

इति गोपालतापिन्याम् । तथोक्तं बृहद्वामनपुराणे उत्तरस्थाने[5] खिले च । भृग्वादीन्प्रति ब्रह्मणो वाक्यानि—

षष्टि[6]वर्षसहस्राणि मया तप्तं तपः पुरा ।
नन्दगोपव्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धये ॥ १ ॥
तथापि न मया प्राप्तास्तासां वै पादरेणवः ।
श्रुत्वैतद् ब्रह्मणो वाक्यं भृगुः प्राहाथ सादरम् ॥ २ ॥
वैष्णवानां पादरजो गृह्यते त्वद्विधैरपि ?
सन्ति ते बहवो लोके वैष्णवा नारदादयः ॥ ३ ॥

---

१—उवाच—घ. ङ. च. छ. । २—सौम्य इति नास्ति ज. । ३—सर्वेश्वर—घ. ङ. च. छ. ज. । ४—तथेत्यारभ्य—दध्रे इत्यन्तं नास्ति क. ग. । ५—उत्तरस्थानेखिले च—इति नास्ति घ. ङ. च. छ. । ६—षष्टिवर्षेत्यादि त्रिंशच्छ्लोकाः—न सन्ति ख. जातिरिक्तेषु ।

तेषां विहाय गोपीनां पादरेणुस्त्वयाऽपि यत् ।
गृह्यते, संशयो मेऽत्र को हेतुस्तद्वद प्रभो ! ॥ ४ ॥
ततो ब्रह्मा भृगुं प्राह चिन्तयित्वा पुरातनीं ।
कथां, सर्वश्रुतीनां यद्रहस्यं परमाद्भुतम् ॥ ५ ॥

ब्रह्मोवाच —

न स्त्रियो व्रजसुन्दर्यः पुत्र ! ताः श्रुतयः किल ।
नाहं शिवश्च शेषश्च श्रीश्च ताभिः समः क्वचित् ॥ ६ ॥
प्राकृते प्रलये प्राप्ते, व्यक्तेऽव्यक्तं गते पुरा ।
शिष्टे ब्रह्मणि चिन्मात्रे कालमायातिगेऽक्षरे ॥ ७ ॥
ब्रह्मानन्दमयो लोको व्यापिवैकुण्ठसंज्ञकः ।
निर्गुणोऽनाद्यनन्तश्च वर्तते केवलेऽक्षरे ॥ ८ ॥
अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तमम् ।
तल्लोकवासी तत्रस्थैः स्तुतो वेदैः परात्परः ॥ ९ ॥
चिरं स्तुत्या ततस्तुष्टः परोक्षं प्राह तान्गिरा ।
"तुष्टोऽस्मि ब्रूत भो प्राज्ञा ! वरं यन्मनसीप्सितम्" ॥ १० ॥

श्रुतय ऊचुः—

नारायणादिरूपाणि ज्ञातान्यस्माभिरच्युत !
सगुणब्रह्म सर्वेदं, वस्तुबुद्धिर्न तेषु नः ॥ ११ ॥
ब्रह्मेति मन्यतेऽस्माभिर्यद्रूपं निर्गुणं परम् ।
वाङ्मनोगोचरातीतं ततो न ज्ञायते तु तत् ॥ १२ ॥
आनन्दमात्रमिति यद्वदन्तीह पुराविदः ।
तद्रूपं दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हि नः ॥ १३ ॥

श्रुत्वैतद्दर्शयामास स्वं लोकं प्रकृतेः परम् ।
केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमध्यगम् ॥ १४ ॥
यत्र वृन्दावनं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः ।
मनोरमं निकुञ्जाढ्यं सर्वर्तुसुखसंयुतम् ॥ १५ ॥
यत्र निर्मलपानीया कालिन्दी सरितांवरा ।
रत्नबद्धोभयतटा हंसपद्मादिसङ्कुला ॥ १६ ॥
यत्र गोवर्द्धनो नाम सुनिर्झरदरीयुतः ।
रत्नधातुमयः श्रीमान्सुपक्षिगणसङ्कुलः ॥ १७ ॥
नानारासरसोन्मत्तं यत्र गोपीकदम्बकम् ।
तत्कदम्बकमध्यस्थः किशोराकृतिरच्युतः ॥ १८ ॥
दर्शयित्वेति च प्राह—ब्रूत किं करवाणि वः ?
दृष्टो मदीयो लोकोऽयं यतो नास्ति परं वरम् ॥ १९ ॥

श्रुतय ऊचुः—

कन्दर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः ।
कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयम् ॥ २० ॥
यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः ।
भजन्ति रमणं मत्वा, चिकीर्षाऽजनि नस्तथा ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच—

दुर्लभो दुर्घटश्चैव युष्माकं सुमनोरथः ।
मयाऽनुमोदितः सम्यक् सत्यो भवितुमर्हति ॥ २२ ॥
आगामिनि विरञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते ।
कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ ॥ २३ ॥

पृथिव्यां भारते क्षेत्रे, माथुरे मम मण्डले।
वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान्वो रासमण्डले॥ २४॥
जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोऽधिकम्।
मयि सम्प्राप्य, सर्वेऽपि कृतकृत्या भविष्यथ॥ २५॥

ब्रह्मोवाच—

श्रुत्वैतच्चिन्तयन्त्यस्ता रूपं भगवतश्चिरम्।
उक्तं कालं समासाद्य गोप्यो भूत्वा हरिं गताः॥ २६॥
स्त्रियो वा पुरुषो वाऽपि भर्तृभावेन केशवम्।
हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां, नात्रसंशयः॥ २७॥
तासां पादरजोऽस्त्येव नित्यं वृन्दावने भुवि।
तत्प्राप्य तत्कामनया यान्त्यहो गोपिकागतिम्॥ २८॥
नन्दगोपव्रजस्त्रीणामतः पादरजो मया।
वाञ्छितं पुत्रकाः! सम्यक्, तावत्यः श्रुतयो मताः॥ २९॥
श्रुत्वैतदृषयो वाक्यं ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
सर्वात्मना प्रपन्नास्ते श्रीगोपीजनवल्लभे[१]॥ ३०॥

पुनर्भगवता विष्णुस्वामिनं प्रत्युक्तम्। सौम्य! मम सर्वेश्वरत्वप्रतिपादकानि वाक्यानि वेदादिषु सन्ति न वा?

विष्णुस्वाम्याह—सन्ति, परन्तु[२] बहवः शब्दब्रह्मणि निष्णाताः पण्डिताः सगुणं मूर्तं दृश्यं लिङ्गं सूक्ष्मं नेति नेतीति विहाय निरा-

१—श्लोकान्ते "इति श्रीबृहद्वामनपुराणे बृहद्वनरजो माहात्म्यस्तोत्रं सम्पूर्णमिति विशेषः—ध.। २—परंतु—इति नास्ति—क. ग. ख. ङ. च. छ. ज.।

कारं चिन्मात्रमुपदिशन्ति । तैरेव सिद्धान्तैरवलोकनरूपादि तेषां मते पूर्वपक्षं भवति[१] । तदा का युक्तिः शास्त्रीया ?

तन्निवारणाय पुनर[२]भगवानाह—सौम्य ! सत्यं[३], तेऽपि शास्त्रार्थमाश्रित्य वदन्ति । परन्तु मायावादिनो ह्यसुराः[४] । सर्वशास्त्रकृदहमेव, तेषामसुराणां मत्तः पराङ्मुखीकरणार्थं तच्छास्त्रं मदिच्छयैव प्रवर्तते[५] । ते तु जगदनित्यं[६] मन्यन्ते । कथं सत्यस्वरूपान्मत्तो जातमनित्यं[७] भवति ?

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति[८] श्रुतेः ।" ( तै० भृगु० १ अ० )

"कारणानुमेयं कार्यं भवतीति" न्यायः । तस्मात्सत्यस्वरूपाज्जातं सत्यमेव । परन्तु मन्मायामोहितमतयोऽसुरप्रकृतयो[९] ह्येतन्मतं पूर्वपक्षयन्ति[१०] । प्रपञ्चनित्यकरणे भगवद्भजन[११] साधनं फलञ्च नित्यं भवति । तस्मिन्नित्ये[१२] ज्ञाते भक्तौ दृढा श्रद्धा भवति । एतदर्थं तत्त्ववादिनो[१३] ब्रह्मवादिनः "सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति"

---

१—भविष्यति-क. ख. ग. ज. ञ. ट. । २—तदा—ञ. तदा भगवतोक्तम्—ज. । ३—सौम्य ! ते शास्त्रार्थं-घ. ङ. च. । ४—ह्यासुराः—ख. । ५—प्रावर्तत—क. ख. ग. ज. ञ. । ६—असत्यं—ञ. असत्यं वदन्ति—ट. । ७—असत्यं—ञ. । ८—तद्ब्रह्मेति श्रुतेः—ज. ञ. ट. । ९—असुरप्रकृतयः—इति नास्ति छ. । १०—पूर्वपक्षी कुर्वन्ति—ट. । ११—भजनं फलञ्च नित्यं सत्यं—ञ. । १२—नित्ये सत्ये ज्ञाने भक्तौ च श्रद्धा दृढा —ञ. । १३—एतदर्थं तु—क. छ. ट. । एतदर्थं वादिनः—घ. ज. ।

श्रुतिप्रामाण्यात्प्रपञ्च नित्यं[1] मन्यन्ते । "यथाग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेति" कर्मणा[2] चित्तशुद्धिर्भवति, चित्तशुद्ध्यात्मज्ञानं, ज्ञानेनैवात्मप्राप्ते[3]र्मोक्ष इति[4] स्वर्गकामस्य मोक्षफलं दर्शितं, तद्रोचनार्थं फलश्रुतिरिति तेषां सिद्धान्ते । प्रपञ्चसत्यत्व[5]करणेऽपि तद्वत् । एवं शास्त्रं भवतु । परं प्रपञ्चो नित्य[6]एव । "मायेत्यसुराः" इति श्रुतेः । भगवद्गीतासु च आसुरप्रकृतीनां लक्षणम्—

"असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वर"मित्यादि ।

चतुर्भुजा[7]द्याकारैर्मया देवासुरविरोधेषु देवानां पक्षपातः कृतः । अतश्चतुर्भुजाद्याकारेष्वसुराणां द्वेषः, इति निराकारं प्रतिष्ठन्ते । "सोऽहमस्मीति" मन्यमाना हिरण्यकशिपु-कंस-वेन-पौण्ड्रकादयो "मत्तोऽन्यो जगदीश्वरो नास्तीति" वदन्ति स्म । असुराविष्टादेवाश्च[8], ऋषयोऽपि "सोहस्मीति"वादीनि[9] शास्त्राण्याश्रित्य निश्चयं कृतवन्तः ।

अथ ये केवलं दैवीं प्रकृतिं गतास्ते "दासोऽहमस्मीति" मां भजन्ते । यथोक्तं भगवद्गीतासु—

"माहात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥"

---

१—नित्यं सत्यं—ज. । २—सत्कर्मणा—ज. ज. । ३—प्राप्तिः ख. ज. । ४—इति तु फलं यद्दर्शितं तद्रोचनार्था फलश्रुतिरिति तेषां सिद्धान्तः—ज. । ५—सत्यकरणे क. ख. ग. ज. ज. ट. । ६—नित्य सत्य एव—ज. । ७—चतुर्भुज इत्यारभ्य अतः पर्यन्तं नास्ति घ. ङ. च. छ. ज. । ८—च—इति नास्ति घ. छ. । ९—वादिनः तथा—ज. । वादीनि-इति नास्ति ज.

यावदविद्याबन्ध[१]स्तावज्जीवत्वम्, अविद्यानिवृत्तौ जीवो ब्रह्मैव भवति । अतो यावद्बन्धस्तावज्जीवेश्वरयोर्भेदः । मोक्षे जीवभावनिवृत्ता[२]वेकमेवेति मायावादिमतम् । अनित्यः प्रपञ्चो नित्यं ब्रह्मेति च । सगुणब्रह्मोपासनया भक्त्यापि मुक्तिरेव पुरुषार्थः । निखिलमपि भक्ति[३]शास्त्रं मुक्तिसाधनं मन्यन्ते ।

नैतन्मतमस्माकम् । ब्रह्मवादिनां जीवत्वे निवृत्ते ब्रह्मानन्द-रूपविभागेनांशांशि-सेव्यसेवकतया भेद एव मुक्तावपि । अत्र[४] "द्वासुपर्णा सयुजा०" इति ऋचः प्रमाणम् ।

इति श्रुत्वा विष्णुस्वाम्याह—भगवन् ! निःसंशयोऽहमस्मि । त्वमेव सर्वेश्वरेश्वरः[५] ।

पुनर्भगवानाह—सौम्य ! यन्मनसीप्सितं तद्ब्रूहि ।

विष्णुस्वाम्याह—श्रुतिषु भक्तिशास्त्रेषु (च) प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं, वस्तुतो जीवेश्वरयोरभेदत्वञ्च[६] दृश्यते, तत्किम् ?

भगवानाह—तत्सत्यम् । मिथ्येतिपद वैराग्यार्थम् । वस्तुतो जीवेश्वरयोरैक्यं शोकमोहभयादिनिवृत्तये पठितम् । "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इति श्रुतेः (ईशोपनिषद्) ।

अहमानन्दमात्रकरपादमुखोदरो, गुणत्रयातीतोऽक्षरादप्युत्तमः

---

१—बुद्धिः—छ. । सम्बन्धस्तावत्संसारः, तन्निवृत्तौ जीवोऽपि ब्रह्म भवति—ञ. । २—निवृत्ते ऐक्यं-ज. । भावेनिवृत्त एव ब्रह्म-सम्पत्तिः—ञ. । निवृत्ते एकमेवेति मायावादिनां—छ. । ३—ब्रह्म—घ. ङ. च. छ. । ४—अत्र प्रमाणं द्वाविमौ, द्वासुपर्णा० इत्यादि वाक्यम्—घ. ङ. च. छ. ट. । ५—सर्वेश्वरः—क. ग. घ. ङ. च. छ. ञ. । ६—ऐक्यं—छ. ञ. ज. ट. ।

पुरुषोत्तम एव । मद्भक्ता मत्समा मत्सधर्मा[1] मदंशा एव, न तु जीवत्वं तेषु[2] । दृश्यमानभेदोऽप्यभेद एव, सेव्यसेवक-लीलयाऽहमेव सर्वदा वर्ते । अथ मया[3] यत्कार्यं तद्ब्रूहि ।

विष्णुस्वाम्याह—देव ! अनेनैव स्वरूपेण सपरिवारस्त्वमत्रैव तिष्ठ, राजसेवकवत्[4] त्वां परिचरेयम् ।

श्रीभगवानाह—सम्प्रति कलिकालो वर्तते । न देवता साक्षात्त्वां[5], तर्हि कथं मे देवोत्तमस्य ? अतो मत्प्रतिकृतिं[6] कारय । अस्त्यस्मि-न्पुरे विश्वकर्मांशः शिल्पकर्ता । असौ मां दृष्ट्वा मद्रूप[7]समां प्रतिकृति मम करिष्यति ।

विष्णुस्वाम्याह—देव ! एवञ्चेत्तर्हि वैदिकतान्त्रिकलौकिकदेवा-लयप्रतिष्ठासङ्कल्पीकरणादौ कलिकाले देशकालपात्रद्रव्यश्रद्धा-मन्त्रादि[8]विधिः कथं पूर्णो भवति, विध्यूनत्वे[9] कथं विश्वासः ?

पुनर्भगवानाह—दृष्टमात्रा मत्प्रतिकृतिः साक्षादहमेव मन्तव्यः, सेव्यश्च ।

विष्णुस्वाम्याह—एवं कृते मत्कृतमशास्त्रीयं पाषण्डवेदबाह्यं मंस्यते[10] महाजनः[11] ।

---

१—मत्समधर्माः—घ. ङ. च. । २—तेषु दृश्यते—क. ग. । ३—ते ञ. । अथ यत्कार्यं मया—ञ. । ४—राजसेवया—ञ. । ५—सत्त्वं—घ. ङ. च. छ. ञ. ट. । ६—प्रतिमां—घ. ङ. च. छ. ट. । ७—मम रूपसमां मत्प्रतिकृतिं करिष्यति—जातिरिक्तेषु पुस्तकेषु । ८—सम्पदादि—क. ख. ट. । सम्प्रदाय—छ. । ९—विधिन्यूनत्वे—ख । १०—मन्यते महाजनः जातिरिक्तेषु पुस्तकेषु । ११—महाराजः क. ग. घ. छ. ञ. ट. ।

पुनर्भगवानाह—यथा मन्त्रन्यास१प्रतिष्ठादौ कृते, प्रतिमायां देवब्राह्मणवचनैर२र्देवता सान्निध्यं करोति, तथा केवलेन प्रेम्णा देवता सान्निध्यं करोतीति वेदवाक्यानि सन्ति ।

"स होवाच याज्ञवल्क्यस्तस्मादात्महिताय प्रेम्णा हरिं भजेत्, वचसा तन्नामानि कीर्तयन्" इति श्रुतेः ।

"न देवो विद्यते काष्ठे ना मृत्सु न३ शिलासु च
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम् ॥"
"केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः० ।"

( इत्येकादशस्कन्धे । )

रुष्टेन हिरण्यकशिपुना कोऽ४ऽस्ति त्वस्स्वामीत्युक्ते, प्रह्लादेन सर्वत्रास्तीऽ५त्युक्तम् । पुनर्हिरण्यकशिपुना "कत्स्मात्स्तम्भे न दृश्यत" इत्युक्ते, हरिः स्तम्भा६त्प्रादुरासीत् । तत्र को मन्त्रः, का प्रतिष्ठा, किं सङ्कलीकरणम् ? केवलं भक्त७भाव एव । केवलं प्रेमभावहीनानां८ वेदिकतान्त्रिकोक्तमार्गाधिकारः९ । मदुक्तोऽयं मार्गः श्रीभगवद्गीता१०श्रीभागवतोक्त एव । अतः फलमार्गोऽयम् । "निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्"

---

१—गस्यातत्प्रतिष्ठा—ख. । २—वचनेन—ख. छ. ज. ञ. ट. । ३—च न चाश्मनि—ख. छ. ज. ञ. ट. । ४—नास्ति स्वामी—घ. ङ. च. छ. । ५—स्थित: घ. ङ. च. छ. । ६—तस्मात्—छ. । ७—भक्ति—घ. ङ. च. छ. ज. ट. । ८—रहितानां—घ. ङ. च. छ. । ९—मार्गेऽधिकारः—घ. ङ. च. छ. ञ. ट. । १०—श्रीमद्भागवतगीतोक्त एव—ट. । श्रीभगवद्गीतासु श्रीभागवतोक्त एव—ज. ।

इति१ श्रीभागवतमुच्यते । अतोऽयं मार्गो वैदिक एव, ननु पाषण्डो, नाशास्त्रीयश्च ।

इति श्रुत्वा विष्णुस्वामिना सूत्रधारमाकारयित्वा साक्षाद् भगवन्तं दर्शयित्वा प्रतिकृतिः कारिता ।

पुनर्भगवता२ विष्णुस्वामिनं प्रत्युक्तम् । सौम्य ! भगवद्गीता, श्रीभागवतं मे३ शास्त्रं, अहमेव देव एक एव, "कृष्णतवास्मीति" पञ्चाक्षरवाक्येनात्मनिवेदनम्, ४ नामैव मन्त्रः, महाराजोपचार-विधिना सेवैव कर्म । यस्त्वत्सम्प्रदायी भूत्वा यशोदागोप्युद्धवा-दिवत्परिचरिष्यति मां प्रतिमारूपमपि साक्षान्मत्वा, तत्कृतां सेवां पुरावद्६गृहीष्यामि ।

यथोक्तं७ श्रीभागवतदशमस्कन्धे—

"गताध्वनःश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्दनादिभिः ।
नीवीं वसित्वा रुचिरां दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ ॥
जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ ।
संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे ॥"

भागवतोक्तोऽयं सेवामार्गः । वैदिकतान्त्रिकविधान८ज्ञानवेदान्त-

---

१—इति-इति नास्ति घ. ब. ञ. ट. । २—भगवान् तंविष्णु० प्रत्युवाच ब. । ३—भागवतमेव शास्त्रं, ञ. । शास्त्रं घ. ङ. च. छ. ब. ट. । ४—श्रीकृष्णः शरणं ममइति विशेषः ञ. । ५—गोपीजनोद्धवादिवत् छ. । यशोदोद्धवादिवत् ञ. । ६—पुनः ब. ङ. च. छ. ट. । ७—दशमस्कन्धे श्रीभागवते-ञ. । यथा दशम-स्कन्धे ब. । ८—विधिना घ. ङ. च. छ. ।

साङ्ख्ययोगवर्णाश्रम[१]धर्मादयो भागवते दृश्यन्ते, ते सर्वे भक्ति[२]साधनान्येव। "मुक्तेर्गरीयसी भक्तिः"। इति गीताभागवतयोः फलं तात्पर्यञ्च। इत्युक्त्वा भगवानन्तर्हितः।

अथ विष्णुस्वामी भगवदुक्त[३]क्रमेणानुदिनं सेवां चकार। तेन कृपया शिष्यसंग्रहोऽपि कृतः। ये[४]तेनानुगृहीतास्ते गोपीजनवल्लभं प्राप्ताः। विष्णुस्वाम्यथ लोकसंङ्ग्रहतो वर्णाश्रमधर्मरक्षार्थं त्रिदण्डी यतिर्भूत्वा भगवद्गतिं गतः।

इति श्रीसम्प्रदायप्रदीपे विष्णुस्वामिस्नेहपात्रे,
बिल्वमङ्गलावर्त्तौ, श्रीवल्लभदीपशिखे,
श्रीविष्णुस्वामि[५]चरितं द्वितीयं
प्रकरणम्

---

१—वर्णाश्रमादयः-छ.। २—भक्तिमार्गं-ज.। ३—भगवदुक्तं—ख. ञ.। ४—येऽनुगृहीताः—घ. ङ. च. छ. ज. ट.। ५—स्वामीश-ञ.

# तृतीयं प्रकरणम्

अथ श्रीविष्णुस्वामिसम्प्रदाये बिल्वमङ्गल[1]नामा बभूव। बिल्वमङ्गलौ[2] द्वावभूताम्, उत्कलदेशीयस्तृतीयश्च, यस्याष्टोत्तरश्लोकसङ्ख्याकं स्तोत्रं श्रूयते। एकः काश्यामेको द्राविडे च। द्राविडदेशीयो विष्णुस्वामिसम्प्रदायी। काशीवासी द्वितीयजन्मनि जयदेवनामा बभूव, येन श्रीगीतगोविन्दगानं कृतम्। स[3] प्रथमं माधवानलः, द्वितीये जन्मनि बिल्हणः, तृतीये बिल्वमङ्गलः, चतुर्थे जयदेवः। नर्त्तकी कामकन्दला, शशिकला, काश्यां वेश्या, पद्मावतीतिक्रमादारभ्य। श्रीगोपीजनवल्लभाख्ये तत्त्वे द्वयोरप्यैकमत्यम्।

बिल्वमङ्गले विष्णुस्वामिमार्गं प्रशासति, शिष्यतया[4] बहवो गोपीजनवल्लभतत्त्वविदो बभूवुः, तदा भगवांस्तत्त्वज्ञानेऽनधिकारिणो जना[5]न्मत्वा[6] पुरातनीं पौराणिकीं कथामनुसस्मार। अत्रान्तरे[7] महादेवः कैलासशिखरे सिद्धवटतरुमूतले रत्नवेदिकायां

---

१—मङ्गलोनाम-इति ब. ङ. च. छ.। ।२—बिल्वमङ्गलौ-इत्यारभ्य ऐकमत्यमित्यन्तं नास्ति ज.। ३—स इति नास्ति ञातिरिक्तेषु। ४—तच्छिष्याः ख.। ५—आसुरजनान् ज.। ६—वीक्ष्य छ.। ७—अनन्तरे ज.। ८—वटतले ख.। तरुमूले ब.।

व्याघ्रचर्मासन उपविश्य श्रीपुरुषोत्तमं समाधिना चिन्तयामास। समाधौ[1] भगवान्महादेवमाह[2]—

यथोक्तं पद्मपुराणे—

"त्वञ्च[3]रुद्र ! महाबाहो ![4] मोहशास्त्राणि कारय।
अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज ! ॥ १ ॥
प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशञ्च मां कुरु।
त्वामाराध्य यथा शम्भो ! गृह्णीष्यामि वरं सदा ॥ २ ॥
द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु।
स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च जनान्मद्विमुखान्कुरु ॥
माञ्च गोपय येन स्यात्सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा ॥ ३ ॥"

तदेव पुराऽऽदिष्टमपि मत्वाऽवतितीर्षुर्बभूव।

एतस्मिन्नन्तरे दाक्षिणात्ये जनपदे कश्चिच्छिवभक्तो ब्राह्मणो बभूव, सोऽप्यनपत्यो वृद्धश्च। तस्य शिवमाराधयतः शिवालये शिव आत्मानं दर्शयामास, "वरं ब्रूहि प्रसन्नोऽस्मीत्युवाच।" "पुत्रं मे[5] देहीति" ब्राह्मणस्तमब्रवीत्। पुनः शिवेनोक्तम्—पुत्रादन्यं वरं वरय। पुनस्तेनोक्तम्—पुत्रं मे देहि, तदन्यन्न वृणे। पुनः शिवेनोक्तम्[6], एको द्वादशवर्षायुः, अपरः पञ्चाधिकशतवर्षायुः, तयोर्मध्ये पुत्रमेकं वृणु। द्वादशवर्षायुः सर्वगुणसम्पन्नो भविष्यति, तदितरो महाजडो भविष्यति। ब्राह्मणोऽब्रवीत् देव ! तावत्स्था-

---

१—समाधौ प्रासः ज.। २—प्रत्युवाच घ. ङ. च. छ.। प्रत्याह ख. ज. ञ. ट.। ३—त्वञ्चरुद्र इत्यादि श्लोकद्वयं नास्ति घ. ज. ञ. ट.। ४—महादेव ! घ. ङ.। ५—मे इति नास्ति ङ. च. ट.। ६—यवादि ञ.।

नव्यम्, पत्नीं पृष्ट्वा वक्ष्यामि[१]। शिवेनोक्तम्—हे द्विज ! गच्छ, स्थितोऽस्मि। ततो गृहं गत्वा पत्नीं पृष्ट्वा समायात आह च—देव ! सर्वगुणसम्पन्नं पुत्रं मे देहि। शिवोऽब्रवीत्—अहमेव तव[२] पुत्रो भविष्यामि। ततो गौर्यब्रवीत्—तव सेवार्थमहमवतरिष्यामि।

ततस्तद्ब्राह्मणपत्नी गर्भं दधार। गर्भधारणादनु मासेषु पूर्णेषु[३] पुत्रं जनयामास। शङ्करदानत्वात्पिता तस्य[४]शङ्कर इति नाम चकार। ततः शुक्लपक्ष उडुप इवाशु[५]ववृधे। संस्कारक्रमेणोपनयनमवाप। गुरोः सकृन्निगदमात्रेण वेदान्साङ्गानधीतवान्। शास्त्राणि[६] च स्वयमेव ज्ञातवान्। वाग्जन्म[७]दिनादारभ्य महाकविरभूत्। क्वचिच्छक्तिं स्तौति, क्वचिच्छिवम्, विष्णुमपि क्वचित्। ताव[८]द्देवताः साक्षाद्भूत्वा वरान्ददुः। अणिमादयः सिद्धयस्तद्वशेऽभवन्। कस्यचिद् ब्राह्मणस्य गृहेऽवतीर्णा गौरी तेन विधिव[९]द्विवाहिता। गृहस्थेन तेन त्रैवर्गिको[१०] धर्मः प्रवर्तितः, श्रियैश्वर्य[११]प्रजेप्सुभ्य उपासनाकाण्ड विस्तारितम्, त्रिकालज्ञानवत्त्वात्[१२]। सर्वोऽपि मनुष्यलोकस्तद्वाक्ये स्थितः।

---

१—पृच्छामि ख. घ. ङ. च. छ. भ. ट.। २—मस्य-क. ग. ख. ञ. ट.। ३—पूर्णेषु-इति नास्ति क.। ४—तस्य-इति नास्ति घ. ङ. च. छ. ट.। ५—आशु-इति नास्ति ज.। ६—शास्त्राणीत्यारभ्य ज्ञातवानित्यन्तं नास्ति ञ.। ७—वाग् इति नास्ति क. ख. ग. ज. भ. ट.। ८—ताः—क. ग. ख.। तास्ताः—ञ.। ९—विधिना—ख. भ.। १०—त्रैवर्णिकः—ट.। ११—श्री-इति नास्ति घ. ङ. च. छ.। श्रियै०-इत्यारभ्य तद्वाक्ये स्थितः—इत्यन्तं नास्ति ञ.। १२—ज्ञानत्वात्—घ. ङ. च. छ. ट.।

ततस्तस्य जन्मत एकादशवर्षाण्यतीतानि । प्राप्ते द्वादशे वर्षे पितरं प्राह—हे पितः ! अस्मिन्नेव वर्षे किमप्यनिष्टं भावि, अतः काश्यां यास्यामि१ । ततःपत्न्या सह तेनोक्तम्२, आवामप्या यास्यावः । ततः शङ्कराचार्यः३ सर्वांञ्छिविका४स्वारोप्य पत्न्या सह काश्यां जगाम । यदा काशीमध्ये प्रविष्टस्तदा काल५-ज्वरः समजनि । ततो मणिकर्णिकायां स्नात्वाऽर्द्ध पद्येन स्तुत्वा प्राणानुत्ससर्ज । तदर्द्ध पद्यं यथा६—

"निमज्जता नाथ ! भवार्णवान्तः७—
चिरान्मया पोत इवासि८ लब्धः ।"

तदनु तत्पितरौ महद्दुःखान्वितौ विलेपतुः । तत्परिदेवनं श्रुत्वा गौर्यसम्भ्रान्ता९दयान्विताऽऽसीत् । पद्योत्तरार्द्धं गौर्या पठितम् । तद्यथा—

"मयाऽपि१०लब्ध्वं भगवन्निदानी-
मनुत्तमं पात्रमिदं दयायाः ॥"

तच्छ्रुत्वा११ शङ्करो जीवितमवाप । पत्नीं प्रत्य१२ब्रवीत्, त्वया१३

---

१—गमिष्यामि—ख. । २—पित्रोक्तं—ज. ञ. । ३—शंकरः—ग. छ. । ४—शिविकायां—ज. ञ. । ५—काले—घ. । ६—तद्यथा—ग. घ. ङ. छ. । ७—वेऽन्तः—क. ग. । ८—इवाद्य—च. । ९—गौर्यंश-भूता—ज. । च दया—ङ. । १०—त्वयापि—क. ख. ग. ज. ञ. ट. । ११—पुनः शङ्करः—ञ. । १२—प्रति इति नास्ति च. । १३—कथं मम जीवितुं प्रार्थितः—क. ख. ग. । कथमहं जीवितुम्मतिप्रार्थितः—ञ. ।

मम जीवितं कथं प्रार्थितम् ? जीवितोऽपि प्रव्रजिष्यामि । ततस्तेन संन्यस्तम् ।

कुटीचरबहूदकहंसपरमहंसेति[1] चतुर्धा संन्यासः[2] । मदिरामत्तवत्पतित[3]मपतितं च यत्कटितटाद्वस्त्रं न ज्ञायते यावत्तावच्छिखासूत्रे न त्याज्ये, कषायवस्त्रमपि न धार्यम्[4]—इति श्रुतौ[5] संन्यासधर्माः पठिताः । यावच्छिखासूत्रे तावद्वेदवान् पुरुषः, शिखासूत्रयोस्त्यक्तयोर्वेदोऽपि त्यक्त एव । वेदे त्यक्ते श्रीनारायणस्त्यक्त एव, पश्चात्पाषण्डी[7] भवति ।

पुरा[8]पुरुषोत्तमेन "जनामद्विमुखान्कुरु"—इति शिवं प्रत्युक्तम् । तदेवा[9]वतारप्रयोजनं मत्वा शिखासूत्रे परित्यज्य[10] काषायं वासः परिगृह्यैकदण्डी बभूव । तदनु तच्छिष्यप्रशिष्य[11]त्वेन बहवोऽभवन् । यथोक्तं भगवद्गीतासु—

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

---

१—हंसारमकेति-ज. । २—सन्यासिनः-च. छ. ज. । ३—कटितटात्तेन वस्त्रं च्युतं-इति नातिरिक्तेषु । कटि तटाद्विनिर्गतं वस्त्रं स्थितञ्च तेन-इति ट. । कटितटात्तेन वस्त्रं विस्रंसितं-इति च. छ. । ४—कार्यं—क. ख. ग. च. छ. ज. ट. । ५—श्रुतौ—इति नास्ति ज. । ६—त्यक्ततया—च. छ. । ७—पाखण्डः—छ. नातिरिक्तेषु । ८—पुराण—छ. ज. । ९—स्वावतार—ज. । १०—त्यक्ते ट. । ११—प्रशिष्यास्तथा बभूवुः—ज. ।

तदनु[१]—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासे"इत्यादिव्याससूत्राण्युत्तर-मीमांसाकर्तव्ये[२] व्याख्यातानि ।

श्रुत्यर्थविचारे मायावादतत्त्ववादावनादौ[३]स्तः । "मायेत्यसुराः" इति श्रुत्युक्तत्वान्मायावादमतमासुरमेव, यत्र निरीश्वर-साङ्ख्ययोगवेदान्तज्ञानं प्रतिष्ठितम् । "माहात्मानस्तु मां पार्थे"ति भगवदुक्तं तत्त्ववादिमतम्[४] ।

एतस्मिन्नन्तरे गुर्जरदेशेऽणहिल[५]पत्तननामधेये कश्चिद्राजा बभूव । तस्यात्मजः कुमारपालनामाऽऽसीत् । तं कश्चिज्जैनः श्वेताम्बरो हेमसूरिनामा पाठ[६]यतिस्म । एकदा तेन[७] राजकुमारेण रात्रेश्चतुर्थे यामे सम्पूर्णं चन्द्रमण्डलं गिलित[८]मिति स्वप्ने दृष्टम् । जिन[९]शालायामागत्य प्रबुद्धेन पाठकः पृष्टः-सम्प्रति मयेदृशः स्वप्नो दृष्ट इति[१०] । तच्छ्रुत्वा हेमसूरिणा दुर्वचोभिरसौ रोषं प्रापितः । ततो रुष्टः[११] कुमारः स्वगृहं गतः, पश्चान्निद्रां न लब्धवान् । राजपुत्रेण ततो विचारितम्[१२], "उदिते सवित-

---

१—तदनु-इति नास्ति क. ख. ग. ज. । २—व्यस्त्वेन छ. ञ. ट. । कर्तृत्वे—ञ. ट. । ३—अनादौ—घ. ङ. छ. ४—मते—क. ग. । ५—हिल्ल—घ. ङ. । ६—पाल—ज. जातिरिक्तेषु, पपाठ—छ. । ७—तेन—इति नास्ति च. छ. । ८—गलितमिति—घ. ङ छ. ट । राहुगिलितं—ञ. । ९—जैन—ख. । १०—इति—इति नास्ति छ. जातिरिक्तेषु । ११—क्रुद्धः—घ. ङ. च. छ. । १२—निश्चितं—ख. । चिन्तितं—घ. ङ. । मनसि विचारितं इति विशेषः ज. । मनसीतिनिश्चितं—ञ. । मनसि चिन्तितं—च. छ. ट. ।

र्यनं हनिष्यामि, यन्मां निरपराधं दुर्वचोभिराक्षिप्तवान्" । ततो हेमसूरिणा स्वशिष्यं प्रेषयित्वा सम्मानितः१, पृष्टश्च—भो राजपुत्र ! यत्स्वप्ने त्वया दृष्टं, तेन सप्तमे दिवसे तव राज्यं भविष्यति। यदि स्वप्नदर्शनादनु निद्राऽऽयाति२ तर्हि स्वप्नो निष्फलो भवति, अतो मया रोषितोऽसि । यदि तव३ राज्यं भवे४त्तर्हि मदाज्ञावशगेन त्वया भाव्यम्५ । "भविष्यामीति" राजपुत्रः प्रतिजज्ञे । ततो गुर्जरदेशेशः६ कालधर्ममवाप । कुमारपालो राजा बभूव । ततो हेमसूरिवचनात्स्वदेशमध्ये मीमांसकवैष्णवपाशुपतसाङ्ख्ययोगवेदान्तसंज्ञानि वेदमूलानि षड्दर्शनानि नाशं निनाय ।

एतस्मिन्नन्तरे सूर्यस्यांशो७ देवप्रबोधनामा गौडदेशे८ प्रादुर्बभूव । श्रीकृष्ण९द्वैपायनशिष्यो जैमिनिरिति तस्यांशो भट्टाचार्यो बभूव । ताभ्यां काश्यामागताभ्या१०मिति श्रुतम्—जैनपाषण्डेन गुर्जरदेशे नाशितो वैदिको धर्मः । ततस्तावुभावपि जैन११ वेशं विधाय गुर्जरदेशं समायातौ । हेमसूरिणा

---

१—मानितः—क. ग. ज. । २—समायाति—ज. । ३—ते—ख. ञ. । ४—भविष्यति—इति ञातिरिक्तेषु सर्वेषु । ५—स्यातव्यं—ट. । ६—देशीय राजा—ख. । देशे राजा—ज । देशे तत्पिता—ट. । ७—श्रीसूर्य॰—च. छ. ञ. ट. । ८—गौडे—घ. ङ. च. छ. ज. ट. । ९—कृष्ण—घ. । १०—आगत—क. ग. च. ज. । ११—जैनं वेशं विधाय—इति नास्ति ञ. ।

स्वाश्रमं[1] प्राप्तौ दृष्टौ[2] पृष्टौ च—कौ युवामिति । तावूचतुः—आवां जैनदीक्षाकामुकौ तवान्तिकमायातौ । हेमसूरिराह—युवां वर्षं यावत्प्रतीक्षेथां, परीक्षां कृत्वा शिष्यौ करिष्यामि । ततो वर्षं यावत्ताभ्यां हेमसूरिसेवा कृता, उत्पादितो विश्वासः ।

तत एकदा हेमसूरिणा स्वेष्टदेवता पद्मावतीशक्तिर्नित्यं समाराध्यते, तस्या आराधनकाले तावपि मध्ये नीतौ । यथा कोऽपि न जानाति, तथा मदिरापानं कर्तुमारब्धम्, ताभ्यां मदिरा दत्ता । देवप्रबोधेन भयात्पीता, भट्टेन प्रतीक्षध्व[3]-मित्युक्तम् । तत्पानादनु हेमसूरिणा वेददेवब्राह्मणयज्ञ[4]-निन्दनमारब्धम्[5] । तदा भट्टाचार्यस्य[6] नेत्रयोरश्रुबिन्दवः पेतुः, तद्[7]दृष्ट्वा "ब्राह्मणोऽय" मिति हेमसूरिरुवाच[8]—अहिंसैव जैनशास्त्रे[9] मुख्या, अतो[10]नायं हन्तव्यः, उपरितनभूमौ रक्षणीयः । यत्राऽसौ रक्षितस्तत्र तस्य पुस्तकसग्रह आसीत् । तत्पुस्तकान्या[11]लोकयता भट्टेन ज्ञातम्—जैन मन्त्रै[12]रनेन राजा वशीकृतः ।

राजगृहसमीपे हेमसूरि वसतिरासीत् । तस्य राज्ञः काचि-

---

१—स्वाश्रयं—ग. ट. । २—दृष्टौ —इति नास्ति ज. । ३—शनैः प्रतीक्षध्वं—ज. । ४—यज्ञ—इति नास्ति ज. ट. । ५ —कृतं—ट. । निन्दा समारब्धा—ज. । ६—चार्यनेत्र०—क. ख. ग. ब. भ. । ७—तं—क. ख. ग. च. । ८—सन्नुवाच—ज. । ९—शासने—छ. ज. । धर्मे—ट. । १०—ततो—घ. ङ. छ. । ११—न्यवलोक०—ख. घ. ज. । १२—मन्त्रेण— ब. ट. ।

राज्ञी जैन१धर्मपराङ्मुखी वर्तते स्म । सा नित्यं शालग्रा-मार्चां२ कृत्वा भुङ्क्ते स्म । तया निश्येकदा३ पठितम्—

"किं करोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति"

तच्छ्रुत्वा भट्टाचार्येण चरार्द्धं पठितम्—

"मा विषीद वरारोहे ! भट्टाचार्योऽस्मि४ भूतले"

एवमुक्त्वा तस्मादद्रेः५ पतितः "यदि वेदाः प्रमाणं स्यात्तर्हि पतने मृत्युर्मास्तु"। यदीति सन्देहवचनेन६ एकमक्षि विनिर्गतम् । तदनु यथा कोऽपि न जानाति तथा पत्तनेऽहर्निशं चचार ।

एकदा कस्मिंश्चिदारामे रहसि७ तुलसीवृक्षो दृष्टः, ततस्तत्र स्थितः । ततः८ सायङ्काले पुष्पवणिक्समागतस्तुलसी९पत्रं गृहीत्वा पुनः सुनिहितं कृत्वा जिगमिषुरासीत्, तदा भट्टेन गृहीतः, प्रोक्तश्च१०—भो मालाकार ! यो जैनादन्यं धर्ममाचरति स सकुटुम्बो राज्ञा हन्यते, तत्कथय, कस्यार्थेऽयं तुलसी११ तरुः१२ पुष्पवणिगा१३ऽऽह—जैने दयैव मुख्या, त्वमपि जैनोऽसि, अतो

१—जिन—ञ. । २—ग्रामार्चनं—क. घ. ङ. छ. ञ. । ३—निःस्वस्यैकदा—ञ. । निश्येकपद्यार्धं—घ. ङ. च. छ. । ४—ऽस्ति—घ. ङ. च. छ. । ५—द्युः—घ. ङ. छ. ञ. । ६—वचनेन—घ. ङ. छ. । ७—रहसि—इति नास्ति ट. । रहस्येकतुलसी०—ञ. । ८—ततः—इति नास्ति घ. ङ. च. छ. । ९—सतुलसी०—घ. ङ. छ. ट. । १०—आह च—इति आदर्शेषु । ११—कस्यार्थे तुलसीतरुकुसुमं विचिनोषि—क. ग. । १२—वृक्षः ट. । १३—मालाकार—ञ. ।

राजकुले न निवेदनीयम् । भट्ट आह—सत्यं वद, कोऽपि वैष्णवोऽस्ति ? सशपथं न कथयिष्यामि—इति । पुष्पवणिगाह—अस्ति राज्ञ्येका । भट्ट आह—मदीयं लिखितं[१] पत्रं तव भार्या-हस्तेन तस्यै देयम् । "दास्यामीति" मालाकार आह[२] । ततः "किङ्करोमीति[३]" श्लोकं लिखित्वा प्रेषितवान् । राज्ञ्यपि तद्-[४] दृष्ट्वा तमाकारयामास । ततोऽसौ जैनं वेशं कृत्वा[५] राज्ञीगृहे गतः, अन्यथा गन्तुमशक्यत्वात् । मध्ये गत्वा ब्राह्मणवेशं कृत्वाऽऽ-त्मानं दर्शयामास । ततो राज्ञी तं धर्मतः पूजयामास । ततो भट्ट-स्तद्गृहेऽलक्षितोऽवात्सीत् । पश्चाद्यादशोऽङ्गदो हेमसूरिणा जैन-वशीकरणमन्त्रैः कृत्वा राज्ञो बाहौ बद्धः, तादृशा[६]मङ्गदं कारयित्वा राज्ञीहस्तेन राज्ञो बाहौ बद्धः, जैनकृतो गृहीतः । ततो वंदिका-भिचारतो राज्ञः कालज्वरः समजनि । तद्धेतुं हेमसूरिः पृष्टः, "कथं विज्वरो भविष्यामीति" । हेमसूरिराह—दत्ते कालपुरुषदाने विज्वरो भविष्यसीति । ततः कालपुरुषं निर्माय कमपि ब्राह्मणवटुं[७] ज्ञात्वा, यज्ञोपवीतादि धारयित्वा, गायत्रीमन्त्रं कथयित्वा[८], तस्मै काल-पुरुषदानं दापितम् । दत्ते दाने राजा विज्वरो बभूव । ततो राज्ञो मनसि विचारः समजनि, न ब्राह्मणसमं किञ्चिदस्ति, येभ्यो दाने दत्ते विज्वरोऽहमासम् ।

---

१—तुलसी—छ. । २—उवाच—ञ. । ३—किं करोमि क गच्छा-मीति पूर्वं—इति ञ । ४—तं—इति जातिरिक्तेषु ५—विधाय—ट. । ६—तादृशाङ्गदं ज. ञ. । ७—वटुकं—च. छ. ञ. ट. । ८—पुस्तकद्वारा कथ०—घ. ङ. च. छ. ।

ततः पुनर्देवप्रबोधाचार्यः कृतप्रायश्चित्तः, श्रीनृसिंहं प्रसाद्य पत्तनपुरं समायातो बहुभिः शिष्यैः सार्द्ध१ शिबिकारूढः। तैः सरस्वतीतीरे२ पाकक्रिया कर्तुमारब्धा। तदा हेमसूरिशिष्यैः समागत्य यथाऽन्न३मपक्वं भवति, तथा मन्त्रविद्यया कृतम्। राज्ञीगुरुर्भट्टाचार्योऽपि देवप्रबोधाचार्यं प्रति४समायातः, कुशलादि पृष्टम्। ततो भट्टाचार्येण नारिकेलफलान्यभिमन्त्र्य क्षेपणैः प्रहितानीव प्रेरितानि५ जैनानां शिरस्सु६ युगपत्पेतुः। तैर्हन्यमानैः समेत्य तेषां पाके स्वमन्त्राभिचारो७ दूरीकृतः।

ततो द्वितीये दिवसे कृताह्निकाः सर्वे ब्राह्मणा राजसभां८ जग्मुः। तानागतान्विलोक्य९ राज्ञा प्रणामादिसत्कृतिः कृता। तद् दृष्ट्वा हेमसूरिश्चकितो१० बभूव। ज्योतिर्विदा ब्राह्मणेन तिथ्यादि११ पञ्चाङ्गं श्रावितम्। तत्र१२ स्मार्तेन कथितं "मद्य श्राद्धं१३ करणीयममावास्यास्ती"ति१४। तच्छ्रुत्वा हेमसूरिराह—नाद्यामा-

१—सार्द्धमिति नास्ति ख. प्रातिलिपिषु। २—तीरे स्थित्वा—ख. म.। ३—यथान्नमपक्वं भवेत्—म.। ४—चार्यं समा०—क. ग. घ. ङ.। प्रत्यायातः—च. छ. ज.। ५—प्रक्षिप्तानि—ट.। ६—शिरांसि—क. ख. ग. घ. ङ. च.। ७—मन्त्रचारः—ख. ज. प्रातिलिपिषु। ८—सभायां—क. ग.। ९—वीक्ष्य—च. छ.। १०—चुकोप—घ. ङ. च. छ.। दुःखितो—म.। ११—पञ्चाङ्गं तिथ्यादि—क. ख. ग. ज. म. ट.। १२—तत्र—इति नास्ति ख. घ. ङ. छ. म. ट.। १३—अद्यामावास्याश्राद्धं करणीयं—घ. ङ. च. छ. ट.। १४—अमावास्यास्तीति—इति नास्ति ख. म.।

वास्या, पौर्णमासी१ वर्तते। ब्राह्मणैः कथितम्—नाद्य पौर्णमास्य-
मावास्यैव। हेमसूरिराह—यद्यद्य पौर्णमासी न भवेरत्तर्हि शत-
हस्त३निम्ने गर्ते सशिष्यपुस्तकोऽहं प्रविशामि४, अन्यथा त्वम्५।
तथेत्योमिति ब्राह्मणैरङ्गीकृतम्। ततो हेमसूरिणा स्वेष्टदेवतां
पद्मावतीं स्मृत्वा तस्याः कुण्डलं प्रार्थयित्वा निशामुखे गगने
चन्द्रबिम्बवद्रचितम्। तद् दृष्ट्वा सर्वे जनाः पौर्णमासीं मेनिरे।
ततो देवप्रबोधाचार्येण स्वेष्टदेवता६—नृसिंहवचनेन तच्छक्ति-
कर्ण७कुण्डलं विज्ञाय राज्ञे निवेदितम्—देव८! द्वादशयोजनावधि
प्रकाशोऽस्य नाधिकः९। तद्राज्ञा विलोकिते तत्तथैव जातम्१०।
ततो हेमसूरिणा विचार्य गर्ते प्रवेष्टुमारब्धम्। ततो गर्त-
तलस्थे११ हेमसूरौ सर्वैर्जनैः समेत्य१२धर्मस्य तत्त्वं पृष्टम्। तेन
वक्ष्यमाणमुक्तम्—

"हरिर्भागीरथी विप्राः, विप्रा भागीरथी हरिः।
भागीरथी हरिर्विप्राः सारमेत१३ज्जगत्त्रये॥"

इत्युक्ते मृद्भि१४र्गर्तः पूरितः।

---

१—पौर्णमास्यद्य—ख. ज.। २—स्यात्—घ. ङ. च. छ.। ३—हस्तदघ्ने निम्ने—ज.। ४—प्रविशेयं—ज.। ५—अन्यथा त्वं—नास्ति क. ख. ग. ज. झ.। ६—दैवत—ज.। ७—कर्ण इति नास्ति च. छ.। ८—देव—इति नास्ति क. ख. ग. ज.। ९—नाप्यधिकः—ट.। १०—ज्ञातं—छ.। ११—जलस्थे—घ. ङ. च. छ.। १२—समागत्य ट.। १३—एकं ज०—क. ख. ग. ज.। १४—मृदा-च. छ.।

ततो ये पूर्वं नानादेशेषु गता ब्राह्मणादयस्ते१ पुनः समागताः । ततो वर्णाश्रमलक्षणो धर्मः समावर्ततर२ । गुर्जरदेशे वेदाः प्रवृत्ताः । पूर्वं३मात्रं वैष्णवशैवदर्शने न प्रवृत्ते, भट्टाचार्यस्य मीमांसकत्वात् । मायावादिवेदान्तस्यापि प्रवृत्तिरभवत्४ ।

यदा भट्टाचार्यैर्ज्ञातं५ कुण्डलमिदं पद्मावत्याश्चन्द्रबिम्बायितं तदा पद्मावती सरस्वत्येव सा शशा भूमाववततार६ । इति सा भट्टाचार्यस्य सुताऽभूत् । ब्रह्मणोंऽशः सुरेश्वरनामा कश्चिद्भट्टस्यान्तेवास्यासीत्, सा तस्मै पत्नीत्वे७ दत्ता । तया सार्द्धमसौ भट्टमतानुसारेण गृहाश्रमोचितकर्माण्यन्वहं चकार । कारणं तद्भक्तिरभूत् । ततो भट्टैः स्वमनसि विचारितम्,८—मया गुर्जरदेशे वेदमार्गसंस्थापनाय जैनशास्त्राण्यवलोकितानि, "पाषण्डशास्त्रावलोकनेऽग्निप्रवेशः" इति कारणः१० ।

ततः प्रयागे समेत्याग्नौ प्रवेष्टुमारब्धवन् । तदा तत्र शङ्कराचार्यः समागतः, "विवदिषुरहमस्मो"त्युवाच । तदा भट्टैरुक्तम्—

---

१—ब्राह्मणास्ते सर्वे पुनः—क, ख, ग, घ, ङ, । ब्राह्मणादयस्ते सर्वे—ख, । २—समावर्तत—घ, ङ, छ, ज, झ, ट, । ३—परन्तु पूर्व०—घ, ङ, छ, । ४—अभूत्—ख, घ, ङ, छ, ट, । ५—चार्येण—क, ग, । ६—अवततार्ति—ख, । ७—पत्नीत्वेन-घ, ङ, छ, । ८—यथा कर्माणि-इति विशेषः ग, । ९—मार्ग-इति नास्ति ज, । १०—कारणःआह ख, ।

त्वया काश्यां गन्तव्यम्, तत्र मम जामाताऽस्ति, स[1] विवादं करिष्यतीति, अहमग्नौ प्रवेक्ष्यामि[2]।

ततः शङ्करः काश्यां गतः सुरेश्वरभट्टैः सार्धं विवादं चकार। तत्पत्न्येव[3] मध्यस्था कृता। "शङ्करः पराजयं[4] प्राप्तः पुनर्गृहस्थो भवति, सुरेश्वरः पराजितो यतिरेकदण्डी भवतीति" पणः कृतः। सप्तमे दिवसे शङ्करेण सुरेश्वरो जितः। भट्टसुतया सरस्वत्या शङ्करस्य पक्षपातः कृतः, भट्टमतखण्डने शापदानवैरत्वात्।[5]

ततः शङ्करो गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं दक्षिणस्यां[6] जगाम। तत्र गत्वा शिष्यचतुष्टयं प्रत्युवाच—चतसृषु दिक्षु सुखासनारूढै-र्भवद्भिर्गत्वा सर्वत्र मायावादिसिद्धान्तः[7] स्थापनीयः। "संन्यासः[8] शिखासूत्रपरित्यागेनैकदण्ड[9] एव" इति रात्रौ शिष्यानामाज्ञा दत्ता। तैराज्ञा शिरसि धृता। प्रातः प्रयाणं भावि।

तेषां मध्ये एको मधु[10]नामाऽभवत्। सोऽपि शङ्कराद्गृहीत-

---

१—स—इति-नास्ति नातिरिक्तेषु। २—प्रविशामि-अ.। ३—सभामध्यस्था तत्पत्न्येव कृता-अ.। ४—चेत्पराजयं प्राप्नुयात्पुन-र्गृहस्थो भवेत्, सुरेश्वरश्चेत्०००भवेत०इति अ.। ५—ततो विवादे जाते शङ्करेण पराजितः सुरेश्वर एकदण्डी बभूव—इति-अधिकं-घ. ङ. छ.। ६—दिशि-विशेषः घ. ङ. छ. ट। ७—मतं स्थापनीयं-घ. ङ. च. छ.। वादसिद्धान्तः—अ. ट.। ८—तत्र गत्वा हे शिष्याः! संन्यासः प्रस्थापनीयः—इति विशेषः अ.। ९—एकदण्डयेव—क. ख. ग. ट.। परित्याग एकदण्ड—अ.। १०—मध्वनामा, तस्मा आज्ञा दत्ता, तेनाज्ञा शिरसि धृताऽभवत्—इति विशेषः अ.।

संन्यासः, तस्य स्वप्ने[1] निशि श्रीरामचन्द्रः प्रादुर्बभूव, वाक्यं[2]माह च—मध्व[3] ! त्वया शङ्कर[4]वचने न स्थातव्यम्, यतो भवान्हनुमदंशः, त्वं वैष्णवसम्प्रदाय[5]-प्रवृत्तयेऽवतीर्णः, शङ्करकृतद्[6]व्याससूत्रभाष्य[7]मुत्तरमीमांसालक्षणं पूर्वपक्षीकृत्य तत्त्ववादिसिद्धान्तानुसारेण पुनर्व्याससूत्राणि[8] व्याकुरु। तत्त्ववादिसिद्धान्तः स्वयमुपदिष्टः। ततोऽसौ शङ्करदर्शित[9]मार्गं विहाय श्रीरामचन्द्र[10]दर्शितमार्गेण वैष्णवसम्प्रदायं प्रवर्तयामास। शङ्करमते तत्सम्प्रदायिनामद्यापि[11] विरोधः।

इति[12] समासतो मध्वाचार्यसम्प्रदायोत्पत्तिः।

बिल्वमङ्गलतः[13] पश्चान्मध्वाचार्यात्पूर्वं द्राविडे कश्चिद्रामानुज इति[14] ब्राह्मणो बभूव। तस्य लक्ष्मीं समाराधयतो लक्ष्मीः प्रसन्नाऽभवत्। वत्स ! वरं ब्रूहीत्युवाच। तेनोक्तम्—देवि ! भगवद्धर्मं वद। तत[15]स्तया गरुड आज्ञप्तः। ततो गरुडेन तस्मै नारायणीयः

---

१—स्वप्ने-इति नास्ति ख. ङ. छ. ट.। स्वप्ने श्रीराम० ब.। २—वाक्यं-इति नास्ति ख.। ३—साधो ! ज.। ४—न शङ्करवचनेन—च. छ.। शङ्करवचसि—ट.। ५—सम्प्रदायेऽवतीर्णः—ख. ङ. च. छ. ट.। ६—कृतं—ख. ङ. छ. ट.। ७—भाष्योत्तर० क. ग. च.। ८—सूत्राणां भाष्यं कर्तव्यं—ट.। ९—दृष्टं—ख. ङ. च. छ.। १०—चन्द्र-इति नास्ति च. छ. ट.। ११—अतएवाद्यापि—ख. ङ. च. छ.। १२—ततो मध्वा० छ.। १३—अस्ति दक्षिणापथे-बिल्व०-इति विशेषः ख. ङ. छ.। १४—नामाद्विजः—ख.। १५—अतः—ख.।

सिद्धान्तः समर्पितः। तस्मात्सम्प्रदायः प्रावर्तत। श्रीवैष्णवा१ अद्यापि दक्षिणस्यां दिशि प्रसिद्धाः। तस्मिन्नेव सम्प्रदाये केचिद्धरिहरोपासका अगस्ति२परशुरामकृताः श्रीवैष्णवाः श्रूयन्ते।

इति रामानुज३सम्प्रदायोत्पत्तिः४।

अस्ति दक्षिणापथे पाण्डुरङ्गपुरं५नाम नगरम्। तत्र श्रीविट्ठलाख्यं६ भगवत्स्वरूपम्। तस्मिन्पुरे कश्चिन्निम्बादित्यनामा ब्राह्मणो बभूव। तस्मै श्रीविट्ठलेन स्वसिद्धान्त उपदिष्टः। ततः सोऽपि तत्सिद्धान्तानुसारेण स्वसम्प्रदायं प्रवर्तयामास७।

इति८ समासतो निम्बादियत्सम्प्रदायोत्पत्तिः।

एवं "श्रीविष्णुस्वामि-रामानुज-मध्वाचार्य-निम्बादित्या" इति चत्वारः सम्प्रदायप्रवर्तका दाक्षिणात्याः। उपनिषद्गीताभागवत९-व्याससूत्रभाष्य चतुर्भिः स्व१०सिद्धान्ताविरोधेन कृतमस्ति, निबन्धश्च पृथक् पृथक्। चतुर्षु सम्प्रदायेषु स्वस्वाचार्यकृतो निबन्धो वर्तते। यद्वाक्यतो नित्यनैमित्तिकभक्तिकार्येषु स्वस्व११-सम्प्रदायाः प्रवर्तन्ते१२।

---

१—स्वे-इति विशेषः ख. घ. ङ. छ. ज. ट.। २—अगस्त्य—घ. छ. ३—श्रीरामा०-इति घ. ङ. छ.। रामानुजोत्पत्तिः—ट.। ४—समासतः कथिता-इति विशेषः ज.। ५—पाण्डुरपुरं—ज. ञ.। पाण्डुरनाम—ट.। ६—श्रीविट्ठलो—ज.। ७—वर्तयामास—क. ग.। ८—इति समासत इत्यारभ्य सम्प्रदायोत्पत्तिरित्यन्तं नास्ति जातिरिक्तेषु। ९—श्रीभाग० घ. ङ. छ. ज.। १०—स्व-स्व—ख. ज. ट.। ११—स्वे स्वे सम्प्रदाये वर्तेत ज.। १२ वर्तन्ते—ज.।

यथोक्तं पद्मपुराणे—

"चत्वारस्ते कलौ भाव्याः सम्प्रदायप्रवर्तकाः।

भविष्यन्ति प्रसिद्धास्ते ह्युत्कलेऽपुरुषोत्तमात् ॥"

तद्यथा—एकदा मध्वाचार्यः श्रीपुरुषोत्तमायतनं जगाम। तत्र२ये भगवत्सेवका ब्राह्मणास्तान्प्रत्युवाच—यूयमदीक्षिताः, अदीक्षितै-र्भगवत्सेवा न कार्या३—इति। तदा तैरुक्तम्४—श्रीजगन्नाथ-स्याज्ञया दीक्षां गृहीष्यामः। तदा श्रीजगन्नाथेन सरोषं मध्वाचार्यं प्रत्युक्तम्—५मदीयांस्त्वं दीक्षितान्करोषि ! एते दीक्षिता एव। मध्वाचार्यो भगवन्तं प्रत्याह—

"अदीक्षितस्य वामोरु ! कृतं सर्वं निरर्थकम्।

पशुयोनिमवाप्नोति दीक्षाहीनो मृतो नरः॥"

इति शास्त्रे कथमुक्तम् ! भगवानाह—एतत्क्षेत्रादन्यत्र६ दीक्षिता एव वैष्णवाः। अत्र मदिच्छैव प्रधाना। मध्वाचार्य आह७—के वैष्णवाः केऽवैष्णवा८ इति मया कथं ज्ञायते ! भगवा-नाह९—ये सम्प्रदायचतुष्टयान्तःपातिनस्ते वैष्णवाः। मध्वा-

---

१—स्वकुजे-ख. क. छ.। २—तत्र-इति नास्ति घ. ङ. प्रतिषिद्धेषु। ३—कर्तव्या—ट.। ४—तैरित्युक्त-इति छ. ख. टप्रतिष्ठितेषु। ५—रे रे मधो ! त्वं-इति विशेषः ख.। ६—अन्यत्रादीक्षिता-घ. क्षेत्रान्यदीक्षिता-क. ग.। एकतन्त्रादन्यत्र-ज.। ७—मधुरुवाच-ज.। ८—केऽवैष्णवा इति नास्ति क. ख.। ९—श्रीभगवानुवाच-ज.।

चार्य आह[1]—के ते सम्प्रदायाः ? पुनर्[2]भगवानाह—विष्णु[3]स्वामी, रामानुजः, मध्वाचार्यः, निम्बादित्यः । एतेषां[4] सम्प्रदाये ये प्रवर्तन्ते[5] ते वैष्णवाः ।

इति श्रीजगन्नाथवाक्यात्कलौ सम्प्रदायाश्चत्वारः प्रसिद्धाः । चत्वार उपसम्प्रदाया"श्चैतन्यस्वरूपप्रकाशनन्दा"[6] इति । विष्णुस्वामिन उपसम्प्रदायश्चैतन्यः । रामानुजस्य नन्दः[7] । मध्वाचार्यस्य प्रकाशः । निम्बादित्यस्य स्वरूपः । इति प्राच्याः । स्वरूपप्रकाशौ व्युच्छिन्नौ कालेन । एषु च बलिष्ठाचार्याभावाच्छास्त्रव्याख्याननिबन्धादि न वर्तते । एते मूलसम्प्रदायान्तःपातिन एव, परन्तु[8] पूर्वाचार्यतो वैलक्ष्येन स्वरुचिप्रवृत्तत्वा[9]दुपसम्प्रदाया इत्युच्यन्ते । गरीयसी केवलमीश्वरेच्छा । अत्र सम्प्रदायादिषु को विचारः ।

---

१—मधुरुवाच-ज. । २—पुनः-इति नास्ति छ. । ३—एको विष्णु०. द्वितीयो रामा०. तृतीयो मध्वा०. तुरीयो निम्बा० इति विशेषः घ. ङ. च. छ. ट. । ४—एतत्-घ. ङ. च. छ. ट. । ५—प्रवर्तन्ते-इति नास्ति व्यतिरिक्तेषु । ६—एकश्चैतन्यः, द्वितीयः स्वरूपः, तृतीयः प्रकाशः, चतुर्थोनन्द-इति घ. ङ. च. छ. ट. । ७—नन्दः उपसम्प्रदायः इति विशेषः घ. ङ. च. छ. ट. । शेषद्वयेऽपि-उपसम्प्रदायः, इति-विशेषः । ८—परं पूर्वाचार्यसिद्धान्ततो वैलक्षण्येन प्रवृत्ताः स्वरुचिप्रवृत्तत्वात्, इत्युपसम्प्रदायादिषु को विचारः-इति विशिष्टः पाठः ज. । ९—स्वरुचिप्रवर्तनायोपसम्प्रदायाः-इति व्यतिरिक्तेषु । वर्तनात्-ख. ।

इति श्रीसम्प्रदायप्रदीपे[1], विष्णुस्वामिस्नेहपात्रे,
बिल्वमङ्गलावर्त्तौ, श्रीवल्लभदीप[2]शिखे,
सर्वसम्प्रदायोत्पत्तिनिरूपणं
तृतीयं प्रकरणम्

---

१—सम्प्रदायप्रदीपे श्रीवल्लभप्रदीपे सम्प्रदायोत्पत्तिनिरूपणं नाम तृतीयं प्रकरणम्-इति क. ट. । २—वल्लभप्रदीपशिखे—ज. । वल्लभ-शिखे—ग. ङ. ।

# चतुर्थं प्रकरणम्

श्रीवल्लभो यदि मदीयहृदीश्वरोऽस्ति
श्रीगोपिकाहृदय - पल्वल - राजहंसः ।
सत्येन तेन मम वाचि तदीयवृत्तं ।
सर्वं प्रकाशमुपयातु यथार्थतोऽत्र ॥ १ ॥

अस्ति दक्षिणापथे तैलङ्गाभिधो[1]जनपदः । यत्र ब्राह्मणाः कलिं पराभूय वैदिकधर्ममनुतिष्ठन्ति । यत्राग्निहोत्रयज्ञ[2]कुण्डेषु हविषि हूयमाने धूमान्धकाराच्छादितदृष्टिः कलिर्दूरतः[3] पलायते[4] । यत्राद्यापि वेदाः सवीर्या वर्तन्ते । तत्र[5] ब्राह्मणसकलगुणालङ्कृत[6]—श्रीमल्लक्ष्मणभट्ट — कुलकमलविकासमार्तण्डाः[7] श्रीवल्लभाचार्य्याः प्रादुर्बभूवुः ।

अहो कलिर्दूरतरं गतोऽधुना
धर्मोऽपि संवृद्धिमितश्च[8] वैदिकः ।

---

१—तिलिङ्गा०-इति चातिरिक्तेषु । तिलिङ्गाभिधानः—ब. । २—यज्ञ-इति नास्ति क. ग. च. । ३—०तरं—घ. ङ. छ. ट. । ४—पलायति—ज. ञ. । ५—यत्र सकलब्राह्मणगुणगणालं० इति ब. ञ. म. । तत्र सकलब्राह्मणगुण-इति क. ख. ग. । ६—श्रीयज्ञनारायणवंशोद्भवश्रीमल्लक्ष्मण० इति विशेषः क. ख. ।०कृतश्रीलक्ष्मण-इति छ. ज. झ. ञ. ट. । ७—(एकवचनान्तः पाठः) छ. ज. झ. ञ. ट. । ८—वृद्धिं समितः—छ. झ. ञ. ट. ।

भक्तिर्हरौ[1] सम्यगवर्ततैव

चाकाशबाणद्वाह यदीय[2] जन्मनि ॥ २ ॥

एकदा तैलङ्ग[3] देशाच्छ्रीलक्ष्मणदीक्षितः[4] काश्यां समागतः। तत्रा[5]श्रमक्रमेण गृहाश्रममवाप्य यथोक्तं गार्हस्थ्यं पालयामास। एतस्मिन्नन्तरे तद्धर्मपत्नी[6] कृताधानादि[7]—संस्कारा गर्भं दधार। तद्दिनादारभ्य सप्तमे[8] मासे प्राप्ते काश्यां परचक्रमाजगाम। तद्भयात्सकलमपि पुरं[9] पलायितम्। ततः[10] परचक्र-भयेन काशीतः श्रीलक्ष्मणदीक्षितैः प्रयागं प्रति प्रचलितम्। तत्र स्नात्वा पश्चाद्दक्षिणं प्रति प्रस्थानमारेभे। तदा तत्पत्न्याः गलायन्त्याः[11]

---

१—हरेः—क. ख. ग. हरेः सम्यगिह प्रवर्तते - इति ब. । हरेः सम्यगवर्ततेह यतोऽयमीशः पुत्रतामभूतद्वे । इति तद्देशाकाश वाग्वाह-यदीयजन्मनि इत्यधिकं च. । २—यदस्य—क. ख. ग. । ३—तिलिङ्ग—क. ख. ग. घ. । तिलङ्ग छ. च. झ. ब. ञ. ब. । ४—भट्टैः काश्यां समागतं—ञ. । दीक्षितैः॰ समागतं-इति क. व्यतिरिक्तेषु । भट्टदीक्षितैः स्वज्ञातिभिः सह॰ समागतं इति घ. छ. झ. । ५—ततः आश्रम—ख. ब. व्यतिरिक्तेषु । ६—तत्-इति नास्ति क. ख. ब. व्यतिरिक्तेषु । तद्धर्मपत्नीलक्ष्मागारः कृता॰ इति ब. ७—कृताधानादिसंस्कारा-इति नास्ति घ. छ. । ८—सप्तम मासि-ञ. । सप्तमे मासि—अ. ज. ट । ९—सकलोऽपि जनवर्गः—पलायितः—ञ. । १०—ततः-इत्यारभ्य-आरेभे-इत्यन्तं नास्ति घ. छ. व्यतिरिक्तेषु । ११—सम्वत् १९३५ वर्षे माधवेऽतिपुण्यप्रदे मासेऽसिते पक्षे शुभे गुरुवासरे, शुभपुनर्वसुनक्षत्रे पथि-इत्यधिकं ब. ।

पथि१ वने सप्तममासीयो गर्भो विस्रंसितः। ततो महा२तरुतले तरुपत्राण्यास्तीर्य तत्राम३गर्भं मुक्त्वा कुत्राप्यभयदेशं४ गताः। तत५श्चोडा नगर्यां समागताः। आनन्दाविर्भावात्सर्वेषां हृदि प्रसन्नता जाता। तत्र स्थित्वा श्रुतम्, काश्याः सकाशात्परचक्रं निवृत्तम्, सम्य६क्स्वास्थ्यं जातम्। तदा लक्ष्मणदीक्षित७पत्नी काशीं प्रत्यायान्ती यत्रामगर्भो मुक्तस्तत्राऽऽयाता, स्वसार्थान्८प्रत्युवाच—क्षणं९ सर्वेऽत्र तिष्ठन्तु१०, पश्यामि मयात्र११ गर्भो मुक्तस्तस्य कीदृशो वृत्तान्तः। इत्युक्त्वा भर्त्रा सार्द्धं दिदृक्षुः१२ प्रस्थिता। या१३वत्तरुतले तौ दम्पती गतौ तावन्महाज्वालाविराजितं तत्राग्निपुञ्जं ददृशतुः, आहतुश्च—अहो महच्चित्रमिदम्, क्षण१४—नाश्य आमगर्भो मुक्तस्तत्रा१५ग्निः प्रज्वलन्निव दृश्यते! अतोऽ

---

१—मार्गे चक्रकारण्यवने-इति घ. ङ. छ.। महावने-ख. ञ. झ. ज. ट.। २—महा-इति नास्ति झ.। ३—आमंगर्भमत्यजी इक्षितवान् बालं-ज.। ४—प्रदेशं—छ. झ. ट.। ५—ततः इत्यारभ्य श्रुतं इत्यन्तं नास्ति क. ख. ग. ञ. झ. ज. ट.। ६—सम्यक्-इति नास्ति घ. ङ. छ. ट.। ७—भट्ट ट.। ८—स्वगानेव-ज.। स्थाने-ख. घ. ङ. छ. ट.। स्वसा००वाच-इत्येतत्स्थाने भर्तुः पुरतः सर्वं कथितं इति झ.। ९—क्षणं इति नास्ति ञ. ज.। १०—तिष्ठत-क. ख. ग.। ११—मया-इति नास्ति घ. ङ. छ। यत्राम-झ.। १२—द्रष्टुं-ख. ज.। सह द्रष्टुं-ज.। १३—यावत् इत्यारभ्य तावत्-इत्येतत्स्थाने-तत्र गत्वा-इति घ. ङ. छ.। १४—अत्र मया-क. ख. ग.। क्षणेन यत्राम-झ.। १५—ततोऽग्निः-घ. ङ. छ. ट.।

मानुषोऽयं गर्भो जीवन्निव[1] तिष्ठति। अथैनं गृहीत्वा[2] यास्यावः, इत्युक्त्वा[3] गर्भं नीत्वा गृहं प्रस्थितौ[4]। गृहं समागत्य महद्दैवा[5]ऽनुपृष्ट्वा गर्भं पालयामासतुः। तदनु साङ्गो गर्भो ववृधे।

ततः स्वकुलदेश[6]रीत्या जातकर्मादि[7]संस्कारांश्चक्रतुः। तदनन्तरं शिशोः सर्ववल्लभत्वाच्च[8] पिता श्रीवल्लभ इति नाम चकार। एवं क्रमेण पञ्चमे[9] वर्षे जाते कृतोपनयनो[10] वेदमधीतवान्। तदा तस्या[11]ऽमानुषीं प्रज्ञां दृष्ट्वा[12] लक्ष्मणभट्टैः स्वहृदि विचारितम्[13]—अहो![14] सम्प्रति कलिकालः पुत्रोऽयं मे महानुभावः, "कोऽय[15]मवतीर्ण" इत्यहं[16] न वेद्मि? इति सञ्चिन्त्याग्नि-

---

१—निव घ. ङ. छ. झ. ट.। २—नीत्वा गृहं ख. घ. ङ. छ. झ. ट.। ३—इत्युक्त्वा गर्भं नीत्वा-इत्येतत्स्थाने-जातकर्मादिसंस्कारांश्च करिष्यावः, इति, घ. ङ. छ.। ४—प्रति प्र०-ख. ज. झ.। ५—महदित्यारभ्य-ववृधे-इत्यन्तं नास्ति घ. ङ. छ.। ६—देश-इति नास्ति क. ग.। ७—जात-इत्यारभ्य शिशोः-इत्यन्तं नास्ति क. ख. ग. ज. झ. ञ.। ८—च-इति नास्ति, पिता वल्लभ ख. घ. ङ. ज. झ. ञ. ट.। ९—पञ्चम इत्यारभ्य अधीतवान् इत्येतत्स्थाने गर्भाष्टमे वर्षे जाते कृतोपनयना वेदमधीतवन्तः क. ग.। १०—तत उपनयने घ. ङ. च.। ११—तेदां क. ग.। तदा स्य ज. झ.। १२—ज्ञात्वा श्री क. ग.। १३—चिन्तितं—ट.। १४—अहो-इत्यारभ्य-कालः-इत्यन्तं नास्ति झ.। १५—कोऽयं भव० क. ग. ख. कोऽयमवतीर्णस्त्वं न— झ.। १६—इदं क. ग.।

होत्रशालायां१ भूमौ शयनं चकार । तदा रात्रेः२ पाश्चात्ये यामे श्रीमदानन्दमात्रकरपादमुखो३दरादिर्भगवाँ४ञ्छ्रीपुरुषोत्तम एवाग्निर्विप्ररूपः स्वप्ने५ प्रादुर्बभूव, आह च—अहमग्नि-र्भगवान्६, इच्छया तव पुत्रतां गतः । मदनुभावे७ निः-सन्देहो८ भव, इत्युक्त्वाऽग्नि९रन्तर्हितः । तत्स्वप्नवृत्तान्तः श्री१०लक्ष्मणभट्टैः स्वपत्नीं प्रत्यवादि११ ।

तदनु कियति१२ काले गते सति श्रीलक्ष्मणदीक्षिताः कालधर्ममवापुः । ततस्तत्पुत्र१३स्तत्पारलौकिकं कृत्वा१४ कालक्रमेण मासचतुष्टयमध्ये१५ साङ्गान्वेदानधीत्य सर्व-शास्त्राण्य१६धीतवान् । श्रीशेषकृत१७पाणिनीयव्याख्यां समाप्य

---

१—शालाभूमौ क. ग. । २—रात्रेः-इति नास्ति झ. । तत्रिशायाः ञ. । ३—तलो क. ख. ग. ञ ४—भगवत्स्वरूपमुखमेवाग्निः छ. ङ. छ । भगवच्छ्रीपुरुषोत्तममुखमेवाग्निः ज. झ ञ. ट. । ५—स्वप्नमेव झ. । ६—भगवदाज्ञया तव ख. घ. ङ. ज. झ. ञ. ट. । ७—तदनु-भावैः क. ग. घ. ङ. छ झ. ट. । ८—निःसन्दिग्धो ट. । ९—ऽन्तर्हितोऽग्निः ज. । १०—श्री इति नास्ति ख. घ. ङ. छ. ज. झ. ट. । ११—प्रावादि ट. । १२—कियत् घ ङ. छ. ट. । कतिपय दिवसानन्तरं स्वयं कालधर्ममवाप झ. । १३—तत्पुत्रः-इति नास्ति झातिरिक्तेषु । १४—पारयित्वा ख. घ. ङ. छ. झ ञ. । १५—मासचतुष्टयमध्ये-इति नास्ति क. ख. ग. ज. झ. ञ. ट. । १६—०णि समधीत० ञ. । १७—शेषपाणिनीय-छ. । श्रीशेष-पाणिनि-झ. । श्रीशेष पाणिनीय-ट. ।

व्याससूत्र-जैमिनि-सूत्र-गौतम - काणाद - कापिल - पातञ्जल-सूत्र-व्याख्यां समाप्य[1], पौरुषेयीं समस्यां[2] समवलोक्य नातिप्रसन्नमना बभूव।

ततः श्रीवल्लभो[3] वैष्णवतन्त्र-शैवतन्त्र[4]प्राभाकर[5]-कौमारिल-मौद्गलमतादिशास्त्राणि, विष्णुस्वामि-रामानुज[6]-मध्वाचार्य-निम्बादित्यनामकश्रुत्यादिभाष्यसिद्धान्तं[7] परिज्ञाय मायावादिनां[8] दक्षिणापथे प्रवृत्तिं[9] श्रुत्वा दक्षिणापथं[10] प्रस्थितः[11]। तत्र गत्वा[12] विद्यानगरं समायातः।

तत्र कृष्णरायो[13] राजा वर्तते। तत्र[14] मध्वाचार्यमार्ग-तिमिरनाशनप्रदीपः श्रीव्यासतीर्थनामा यति[15] वर्तते।

१—समाप्य-इति नास्ति ख. ज.। २—साङ्ख्यां—ख. ब.। ३—०माचार्यः-क. ग. ब.। ४—शैवतन्त्र इति नास्ति क. ग.। वैष्णवतन्त्र-शैवतन्त्रं-घ. ब. ऋ. ट.। ५—प्राकृत मौद्गल-ऋ.। ६—०नुजाचार्य-ट.। रामानन्द-ऋ.। निम्बार्क-मध्व ब.। ७—स्व स्व सिद्धान्तं-क. ख. ग.। सिद्धान्त-परिज्ञानाय-ज ब.। ८—मायावादिनामिति स्थाने काश्यां तेषामप्रवृत्तिं दृष्ट्वा-इति क. ख. ग. ज. ऋ. ब.। ९—तत्प्रवृत्तिं ज. ऋ. ब ट.। १०—पुनर्दक्षि०-इति ख.। ११—प्रस्थिताः-क. ग. ब.। १२—तानि सर्वाण्यवलोक्य-इति विशेषः क. ख. ग. घ. ब. ऋ.। १३—कृष्णदेवनामा-ख. घ. ङ.। कृष्णनामा ऋ.। तदा तत्र कृष्ण-नामा ज. ब. ट.। १४—तत्र-इति नास्ति ऋ.। १५—यति-स्तत्र-ऋ.।

"मायावादि१गजानीकनाशने सिंहविक्रमः ।
कृष्णद्वैपायनो व्यासो व्यासतीर्थः कलौ युगे ॥"

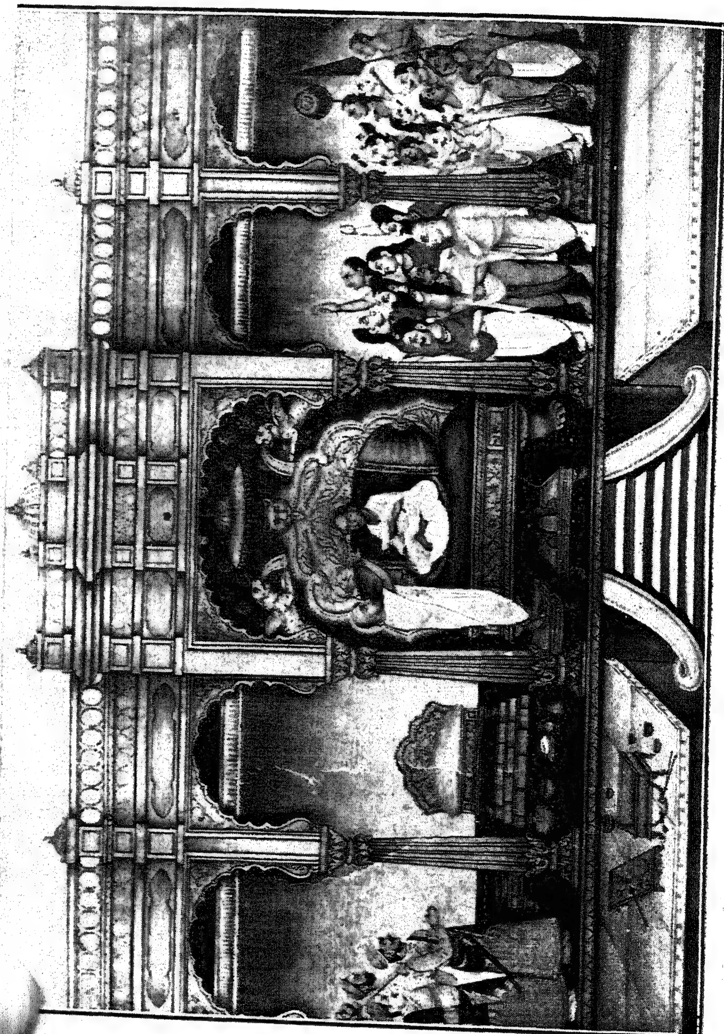
तत्र२ कृष्णनामा राजा राजसभायां मायावादितत्त्ववादिनोर्विवादं कारितवान् । विवदमानयोस्तयोः षडहान्यतीतानि ।

तदा श्रीवल्लभैः३ श्रुतम्—राजसभायां विद्या४विवादोस्तीति५ । ततो६ राजद्वारमार्गे समागताः । ततो द्वारपालकैरलौकिकीं प्रभां विलोक्य राजानं प्रतिनिवेदितम् । पश्चाद्राज्ञाऽऽगत्य विज्ञप्तिः कृता । तदा राजसभायां प्रस्थिताः ।

तस्मिन्विवादे मायावादिना तत्त्ववादी जितः । तदा श्रीवल्लभो७ माया८वादिनमब्रवीत्—रे माया९वादिन् ! मयि जिते जितम् ।

---

१—वाद् ङ. ट. । २—तदा राजसभायां मायावादितत्त्ववादिनोर्विवदमानयोः षडहान्यतीतानि-इति ङातिरिक्तेषु । ३—०माचार्यैः-क. घ. । ४—विद्या इति नास्ति ङ. । ५—इति-इति नास्ति क ग. चातिरिक्तेषु । ६—तत इत्यारभ्य प्रस्थिताः-इत्येतत्स्थाने तच्छ्रोतुकामा राजसभां प्रस्थिताः-क. ग. । (अत्रैव) समागताः० प्रस्थिताः-इत्यनयोः स्थाने एकवचनान्तः पाठः ख. ट. । तच्छ्रोतुकामा राजसभायां प्रस्थिताः ज. । तच्छ्रोतुकामः श्रीवल्लभः श्रीराजसभायां प्रस्थितः ङ. । ७—०माचार्यैरुक्तं रे माया०—क. ग. । ८—मायावादिनं-इति नास्ति ख. ज. ङ. ञ. ट. । ९—रे मायावादिन् इति नास्ति घ. ङ. । रे रे माया० ज. ।



कनकाभिषेक.

वा आर्ट प्रि. अमदावाद

मायावाद्याह—त्वमप्येहि१। श्रीवल्लभैः२ सह तस्य विवादः३समजनि। श्री४वल्लभैर्मायावाद्यप्रयासेन जितः।

ततो५ राजा श्रीवल्लभानां कनकाभिषेकं कारयामास। पश्चाद्विज्ञप्तिः कृता—स्वामिन्नेतद् द्रव्यमङ्गीकर्तव्यम्। ततः श्रीवल्लभैरुक्तम्—एतद् द्रव्यं न मदङ्गीकारयोग्यं, स्नानजलवत्। ततः श्रीवल्लभाज्ञया तद् द्रव्यं पूर्वं विवदमानाभ्यामुभाभ्यां ददौ। श्रीवल्लभो यथेच्छया प्रस्थातुमारेभे। तच्छ्रुत्वा६ व्यासतीर्थैः स्वशिष्येण राज्ञा सह समागत्य श्रीवल्लभगोत्रनामादि स्तुत्वा७ प्रार्थितम्८।

---

१—भवन्तोप्यायान्तु-क. ग.। २—०माचार्यैः सह वादः क. ग.। श्रीवल्लभेन—ख. ज. ट.। ३—वादः-क. ज.। ४—तदा महाप्रभुचरणैरप्रयासेन मायावादी जितः—क. ग.। श्रीवल्लभाचार्यैरप्रयासेन मायावादिनो जिताः ज.। श्रीवल्लभेनाप्रयासेन मायावादी जितः ञ.। श्रीवल्लभेन माया० ख.। ५—तत इत्यारभ्य ददौ श्रीवल्लभः इत्येतत्स्थाने—तदा तत्र राजप्रसादजं द्रव्यं पूर्वं विवदमानयोरुभयोर्दत्त्वा क.। तदा—इति नास्ति, शेषं-कवत् ख. ग.। अङ्गीकर्तव्यमित्यस्य स्थाने गृहीतव्यं ङ.। तत्र राजप्रसादजं द्रव्यं पूर्वं विवदमानयोर्दत्त्वा-ज. ट.। तत्र राजमहाप्रसादजं० शेषं जवत्-ख.। तत्र राजकारितकनकाभिषेकजं द्रव्यं० शेषं जवत् ञ.। ६—तच्छ्रुत्वा-इत्यारभ्य प्रार्थितमित्यत्र मध्ये-व्यासतीर्थैः समागत्य स्वशिष्येण० क. ख. ग. ट.। व्यासतीर्थैः समागत्य शिष्येण सह राज्ञा ज.। व्यासतीर्थैः स्वशिष्येण राज्ञा सहैव समागत्य श्रीवल्लभः प्रार्थितः-ख.। व्यासतीर्थैः समागत्य शिष्येण राज्ञा सह० ञ.। ७—श्रुत्वा-क. ख. ग. ज. ञ. ट.। ८—प्रार्थितं-इत्यारभ्य-तत्र व्यासतीर्थैः-इत्येतन्मध्ये-अत्रभवद्भिः कियत्कालं स्थातव्यं। अयं राजा तुलापुरुषदानं

तत्र व्यासतीर्थैः श्रीवल्लभानुभावमलौकिकमवलोक्य मनसि विचारितम्—"एते१ महानुभावाः"—इति नमनविज्ञप्त्यादिकं कर्तव्यमेव, इति तत्सर्वं कृतम्। "यदीमे२ऽस्मत्सम्प्रदायिनो भवेयुस्तर्ह्यस्मन्मार्गरक्षा समीचीना भवेत्३। तदेतेभ्यः४ संन्यासं दत्वा स्वमार्ग५दीक्षां दत्वाऽऽचार्यपदव्यामभिषेचयिष्यामि६।"

---

करिष्यमाणोऽस्ति। तत्र भवद्भिराचार्यैर्भाव्यं। ततः कियन्तं कालं वल्लभैः स्थितं। तत्कर्म कारयित्वा तुलादानसुवर्णं गृहीत्वाऽर्धद्रव्येण रत्नखचितमेखलां कारयित्वा तत्रस्थश्रीविट्ठलाख्यस्य भगवतः समर्पिता। अर्धद्रव्यस्यार्धेन पैतृकं ऋणं दत्तवान्। चतुर्थांशो वर्तमानोऽग्रे गार्हस्थ्ये यज्ञक्रियायां भविष्यति-क. ख. ग. ज. ट.। अत्र भवद्भिः कियत्कालं स्थातव्यं। तदा कियन्तं कालं श्रीवल्लभाचार्येण स्थितं। तदा कृष्णेन राज्ञा श्रीवल्लभाचार्यस्य सुवर्णस्नानं कारितं-तदर्धद्रव्येण० शेषं कवत्-ज.॥ अत्र भवद्भिः कियत्कालं स्थातव्यं। कृष्णराजा तुलापुरुषदानं करिष्यमाणोऽस्ति तत्र भवद्भिराचार्यैर्भाव्यं। श्रीवल्लभो न तन्मेने। तत्र कियन्तं-कालं तत्रैव वल्लभेन स्थितं। समये तुलापुरुषदानं कारयित्वा आचार्याय वेदविदे कस्मैचित्प्रीतिदत्तं बहुसुवर्णं तद्दापयित्वा स्थिताः। तदनु राज्ञा सुवर्णेन स्नानं कारितं। तद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भयो दत्तं। नतु तन्मध्ये यत्किञ्चिदप्युपयुक्तं, स्नानजलत्वात्। तदनु विज्ञाप्य (राज्ञा) अनन्तसहस्रपरिमितंद्रव्यं समर्पितं। तद् गृहीत्वाऽर्धद्रव्येण० शेषं कवत्-झ.। १—एते-इत्यारभ्य तत्सर्वं कृतं-इत्यन्तं नास्ति ङ. च. छ. झातिरिक्तेषु। २—यद्ययमस्म० भवेत्-ख. ज. झ. ञ. ट.। ३—स्यात्-ज.। ४—एतस्मै- ज.। तस्मादस्मै-झ.। ५—मार्गीय-ज.। ६—अभिषिञ्चामि-झ.। अभिषेचयामि-ट.। अभिषेक्ष्यामि-ज.।

एतस्मिन्नन्तरे[१] विष्णुस्वामिसम्प्रदायी द्राविडदेशीयो[२] बिल्वमङ्गलः श्रीवल्लभाचार्याणां[३] स्वप्ने आत्मानं दर्शयामास, आह च—न युष्माभि[४]र्व्यासतीर्थशिष्यैर्भाव्यम्। अहं[५] भगवतः श्रीदिव्यकिशोरमूर्तेः श्रीकृष्णस्य वाक्यात्त्वद्दर्शनाकाङ्क्षया तिरोभूय स्थितोऽस्मि[६]। तया[७] स्थित्या सप्तशत[८] वर्षाण्यतीतानि, श्रीविष्णुस्वाम्य[९]नन्तरमस्मन्मार्गे[१०] सप्तशतान्याचार्या बभूवुः, चरमोऽहम्। यदा भगवदाज्ञया महा[११]देवांशेन शङ्कराचार्येण[१२] भगवन्मार्गात्सर्वोऽपि जनो भ्रामित[१३]स्तदा मया श्रीकृष्णं प्रत्युक्तम्—नय मां निज[१४]मूर्त्तं पार्श्वमिति। तदा[१५] भगवतोक्तम्—"भविष्य[१६]त्यस्मिन्युगे मन्मुखाग्न्यवतार[१७]रूपः श्रीवल्लभनामा। तद्रूपेण[१८] जीवानां चतुर्लक्षं केवल भक्तिमार्गेणोद्धरिष्यामि।

---

१—एतस्मिन्नन्तरे-इत्यारभ्य-चरमोऽहं-इत्यन्तं नास्ति ब. क. कृ.। २—द्राविडदेशीयो-इति नास्ति ट.। ३—श्रीवल्लभस्यपुरः-क. म.। रात्रौ श्रीवल्लभाय स्वात्मानं-ब.। वल्लभाचार्यस्य-ट.। ४—त्वया व्यास० ०शिष्येण—क. म. ट.। भवद्भिर्व्यासतीर्थशिष्यतया-ब। ५—अहञ्च-ब। भगवतः इति नास्ति ब.। ६—पञ्चवृक्षे-इति विशेषः ब.। ७—तत् ब. म.। तथा-क. ट.। ८—शतं-ब.। ९—विष्णुस्वामिपादा० ब.। १०—अस्मिन्भक्तिमार्गे-क.। ११—श्री-महा० ब. म. ट.। १२—शङ्करेण-ब.। १३ भ्रंशितः क.। १४—स्व क.। १५—तदा स्वप्ने-ब. क. कृ.। श्रीभग०-ट.। १६—बहुवचनान्तः पाठः क. ग.। भविष्याम्यहमस्मिन्युगे मुखा०-ब.। १७—०तारो-ऽवल्लभ०-क.। १८—तस्मिन्नहमाविश्य-क. ख. क. म. ट.। तदा-ब.।

तदात्मज१रूपेण द्वात्रिंशल्लक्षजीवानुद्धरिष्यामि, अन्यांश्च बहुशो जीवाँस्तत्पुत्रादिरूपेणोद्धरिष्यामि । विष्णुस्वामिमतं सर्वं तस्मै२ प्रोक्त्वा तन्मतं श्रुत्वा३ पश्चान्मत्समीपं त्वमायास्यसि ।

रामानुजमार्गीय४सृष्टिः पाद्मकल्पीया, मध्वाचार्य-मार्गीय-सृष्टिः श्वेतकल्पीया, निम्बादित्यमार्गीयसृष्टिः सौरकल्पीया, विष्णुस्वामिमार्गीयसृष्टिः सारस्वतकल्पीया। पद्मोक्तः सिद्धान्तो रामानुजीयानाम्, लक्ष्मीगरुडादयोप्याचार्याः । वायु५ हनुमद्भीमसेनावतारा आचार्या मध्वमार्गीयाणाम्, भारत-रामायणीयः सिद्धान्तः । श्रीभगवद्गीता-श्रीभागवतोक्तः सिद्धान्तो विष्णुस्वामि-मार्गीयाणाम्, रुद्रकृष्णद्वैपायनशुकादयोऽत्राचार्याः । श्रीसूर्य-मण्डलस्थ - हिरणमयपुरुषप्रोक्तश्रुत्यादीनां सिद्धान्तो निम्बा-

---

१—तदात्मज-इत्यारभ्य-रूपेणोद्धरिष्यामि-इत्यन्तं नास्ति क. ख. ग. ज. झ. ञ. ट. । २—तेभ्यः-क. ग. । ३—तन्मतं श्रुत्वा इति नास्ति क. ख. ग. झ. ञ. ट. । तस्माद्विष्णुस्वामिमतं सर्वं तस्मै-निवेदयित्वाऽलभ्यलाभं तद्दर्शनञ्च लब्ध्वा पश्चात्०-ज. । ४—मार्गीया-ख. ज. झ. ञ. ट. एवमग्रे स्थलत्रयेऽपि । ५—वायुहनु० इत्यारभ्य-भगवन्मुखं-इत्येतत्स्थाने-श्रीलक्ष्मीनारायणावुपास्यस्वरूपम् । भारत-रामायणीयसिद्धान्तो मध्वानाम्, वायुहनुद्भीमसेनादयोऽप्या-चार्याः, उपास्यस्वरूपं श्रीरामचन्द्रः । श्रुतिस्मृत्यादीनां सिद्धान्तो निम्बादित्यमार्गीयाणां, सूर्यमण्डलस्थहिरण्यपुरुष आचार्यः, स एवोपास्यरूपम् श्रीभगवद्गीताश्रीभागवतोक्तसिद्धान्तः श्रीविष्णु-स्वामिमार्गीयाणां, अग्निरचार्यो भगवन्मुखं, श्रीशुकवागमृताब्धीन्दुः श्रीगोपीजनवल्लभ एवोपास्यरूपम् । नारद० ज. ।

दित्यमार्गीयाणाम्, तदेवोपास्यस्वरूपम् । श्रीलक्ष्मीनारायणो रामानुजीयानामुपास्यरूपौ । श्रीराम१स्तत्त्ववादिनाम् । श्रीविष्णुस्वामिमार्गीयाणां २ शुकवागमृताब्धिचन्द्रः३ श्रीगोपीजनवल्लभ एव४, अत्राग्निराचार्यो भगवन्मुखम् । नारदीयपञ्चरात्रवैखानसादा५वुक्तविधिना दीक्षापूजादिकं सम्प्रदायत्रये ।

श्रीविष्णुस्वामिमार्गे मर्यादा६मार्गीयात्मनिवेदनपूर्वको भक्तिमार्गः । अस्मन्मुखाग्न्यवतारश्रीवल्लभप्रोक्त-पुष्टिमार्गे पुष्टिमार्गीयात्मनिवेदनपूर्वकं७ प्रेम्णैव भक्तिमार्गः८ । सम्प्रत्यस्मन्मार्गीया अपि शङ्करमार्गीयै९र्भ्रान्ताः । अस्मि१०न्विद्या नगरे श्रीविट्ठलाख्यः पुरुषोत्तमोऽस्ति, असावेव११ भवतामात्मसमर्पणं कारयिष्यति१२ । ततो विष्णुस्वामिमार्गः प्रकाशनीयः ।"

इत्युक्ते श्रीवल्लभैः प्रबुद्धम् । ततः प्रभाते१३ श्रीवल्लभाचार्यै१४र्व्यासतीर्थस्याग्रे कथितो१५ वृत्तान्तः । तच्छ्रुत्वा व्यासतीर्थे१६-

---

१—श्रीरामचन्द्रलक्ष्मणौ—ख. ट. । २—तु-इत्यधिकं ख. ट. । ३—०ब्धीन्दुः ख. ट. । ४—उपास्यः इति विशेषः ख. । ५—०द्युक्त ख. झ. ञ. । ६—मर्यादा-इत्यारभ्य पुष्टिमार्गीय-इत्यन्तं नास्ति क. ख. ग, ज. झ.ञ. । ७—पूर्वक प्रेम्णैव सेवा भक्ति० इत्यधिकं ज. । ८—भक्तिः क. ग. । ९—मायया-क. ख. ग. झ. ञ. ट. । १०—अस्मिन्-इत्यारभ्य तावत्स्थास्यति-इत्यन्तं नास्ति घ. ङ. । ११—स एव झ. । १२—कारयिता ट. । १३—प्रभाते-इति नास्ति ज. । १४—०भाचार्येण ख. । ०मेन झ. ञ. ट. । १५—सर्वो वृत्तान्तः कथितः झ. । वृत्तान्त कथः-ज. । कथितः सर्वो वृ० ञ. ट. । १६—तीर्थैः ज. झ. ञ. ट. ।

नोक्तम्—तद्यूयं१ स्वसिद्धान्तं मह्यमुपदिशत। ततः२ श्रीवल्लभाचार्यै३रुक्तम्—न तुभ्यमहमुपदेष्टुकामः।

एतस्मिन्नन्तरे उभयो४रप्यात्मनिवेदनं श्रीविट्ठलनाथेन स्वप्ने५ कारितम्। श्रीवल्लभाचार्या६न्प्रति श्रीविट्ठलनाथेनोक्तम्—"भवद्भिर्विष्णुस्वामिमार्गोऽङ्गीकर्तव्यः। विष्णु७स्वामिकृत-श्रुतिव्याससूत्रगीताभागवतभाष्यनिबन्धादि८ कालेनान्तर्हितम्। अतो-भवद्भिः कृष्णद्वैपायनोद्धवबिल्वमङ्गलादि९वचनं निशम्य पुनः श्रुत्यादीनां भाष्यं श्रीकृष्ण१०विष्णुस्वाम्यभिप्रायेणारम्भणीयम्। यतोऽग्निवागीश्वर११स्त्वमसि। मार्गो१२ऽयं तावत्स्थास्यति—

"याव१३र्षायुतकलिर्यावद्गोवर्धनो गिरिः।
तावन्मार्गो मदीयोऽयं, सन्ततिश्च भविष्यति॥"

इत्युक्त्वा १४न्तर्हितः।

---

१—अतस्त्वं स्वसिद्धान्तं मह्यमुपदिश-ज. अ.। तत्त्वं सिद्धान्तं मह्यमुपदिश-झ.। तत्सिद्धांतं त्वं मह्यमुपदिश-ट.। २—ततः इति नास्ति ज. झ. ञ. ट.। ३—श्रीवल्लभैः ज.। श्रीवल्लभेन-झ ञ. ट.। ४—श्रीविट्ठलनाथेनोक्तमात्मनिवेदनं कारितम्। स्वप्ने श्रीवल्लभाचार्यं प्रत्युक्तम्-ज.। ५—स्वयमेव-ञ. ट.। ६—श्रीवल्लभं-झ. ञ. ट.। श्रीवल्लभाचार्यं-ज.। ७—श्रीवि० ज. ञ.। ८—०दीनि० हितानि झ.। ९—०दीनां-झ.। १०—कृष्णद्वैपायन-इति विशेषः ट.। ११—वागीश-ज.। श्वरस्याग्नेस्तव मनसि मार्गो० झ.। १२—एष-इति विशेषः ज.। १३—यावद्गंगा प्रकटजला यावद्गोवर्धनो गिरिः। तावदयं मार्गस्तवान्वयश्च भविष्यति-क. ख. ग. ज. ञ.। यावद्गंगा० तावन्मार्गस्त्वदीयोऽयं सन्तति० झ.। १४—श्रीविट्ठलेशो भगवान्-इति विशेषः झ.।

ततस्तस्मा[1]त्प्रस्थितम् । पुनः प्रयागे साक्षा[2]द्बिल्वमङ्गल-दर्शन[3]मजनि । श्रीवल्लभा[4]न्प्रति बिल्वमङ्गलेनोक्तम्—इतो[5]भवद्भिः काश्यां गन्तव्यम् । तत्र [6] सर्वोपनिषद्गीताव्याससूत्रभागवत-भाष्याण्यवलोकनीयानि । सम्प्रति कलौ सर्वशास्त्रार्थो मायावादिभि-र्विपरीततया [7] प्रतिपादितोऽस्ति । तद् दृष्ट्वा [8] ब्रह्मवाद [9] विरोधान्मनसि खेदे जाते मया [10] श्रीकृष्णं प्रति विज्ञापितम् । तदा स्वप्ने मां प्रत्युक्तम्—"मन्मुखाग्न्यवतारश्रीवल्लभाचार्याणा-माविर्भावो जातः, तद्दर्शनं कृत्वा तन्मुखात्तदीयसिद्धान्तं श्रुत्वा पश्चात्कृतार्थो भविष्यसि ।" बदर्याश्रमे[11] गन्तव्यम् । तत्र

---

१—तस्मात्-इत्यारभ्य-अवलोकनीयानि-इत्येतस्याने-तस्मात् बिल्वमङ्गलेन प्रस्थितं । प्रयागे समागत्य श्रीवल्लभमपश्यत् । साष्टाङ्गनमस्कारं कृत्वा बिल्वमङ्गलेन श्रीवल्लभं प्रत्युक्तम्-घ. ङ. छ. । तस्मात्-इति नास्ति झ. । २—साक्षात्-इति नास्ति ख. । साक्षाद्बिल्वमङ्गलेन श्रीवल्लभं प्रत्युक्तं-ज. । ३—साक्षात्समजनि-ख. । समजनि-झ. । ४—०माचार्यान्-ज. । बिल्वमङ्गलेन श्रीवल्लभं प्रत्युक्तं-झ. ट. । ५—अथ-जातिरिक्तेषु । ६—तत्र इति नास्ति जातिरिक्तेषु । ७—०रीततः-क. ग. । ८—दर्शनेन-ज. ञ. । दर्शने-झ. ट. । तं दृष्ट्वा छ. । ९—०वादिविरोधतः-ख. । ०वादिविरोधात्-ञ. । १०—मया-इत्यारभ्य-भविष्यसि-इत्यन्तं नास्ति क. ख. ग. ब. झ. ञ. ट. । ११—बदर्याश्रमे-इत्यारभ्य-अन्तर्हितः-इत्यन्तं नास्ति घ. ङ. छ. ।०श्रमं-ख झ ट. ।

साक्षात्कृष्णद्वैपायनदर्शनं भविष्यति, तयोद्धवस्यापि। तत्प्रसाद-वाक्यतः सर्वज्ञत्वं भविष्यति—इत्युक्त्वा[१]न्तर्हितः।

ततः[२] श्रीवल्लभाचार्यैः काश्यां गत्वा तथैव कृतम्। पश्चाद्बदर्याश्रमं गत्वा व्यासदर्शनाकाङ्क्षया स्थितम्। एकदा साक्षाद्व्यासदर्शनमभूत्। तदा व्यासेन[३] श्रीवल्लभाचार्यम्प्रति "सर्वज्ञो भव" इत्युक्तम्। "त्वयि साक्षात् श्री[४]कृष्णावेशो भविष्यति। मन्मतानुसारि श्रीभागवत-व्याससूत्रादि[५]भाष्यं कर्तव्यम्। सम्प्रत्यासुरसर्गो[६]त्पन्नैर्मायावादः प्रवर्तितः, तमपाकुरु"—इत्युक्त्वाऽन्तर्हितं[७] व्यासैः।

तदनु हरिद्वारमागत्य कुरुक्षेत्रे श्रीवल्लभाचार्याः[८] समागताः। तत्र स्थानेश्वरनाम नगरम्। तत्र रामानन्द[९]नामा तान्त्रिक[१०]-वैष्णवः। तद्गृहे गत्वा[११] तदातिथ्यं गृहीत्वोपविष्टम्

१—बिल्वमङ्गलोऽ-इति विशेषः झ.। अन्तर्हितः, तद्वृत्तान्तं श्रुत्वा श्रावितः पश्चात्कृतार्थो जातः-इति विशेषः क. ख. ग. छ.। २—ततः-इत्यारभ्य व्यासैरित्यन्तं नास्ति घ. ङ. छ.। श्रीवल्लभैः-ज.। श्रीवल्लभेन-झ. ञ. ट. ३—श्रीमदाचार्यं प्रति व्यासेनोक्तं-सर्वज्ञो भवेति-ज.। व्यासेन श्रीवल्लभं प्रति सर्वज्ञस्त्वं भव-झ. ञ. ट.। ४—श्री इति नास्ति-ज. झ. ञ. ट.। ५—०देः०-झ.। भाष्यं कार्यं-ज.। ६—मार्गो-क. ग. झ. ट.। सर्गोद्भवैः-ज.। सर्गोत्थैर्मायावादं प्रवर्तितमपाकुरु-ञ.। ७—०र्हितो व्यासः-ट.। ८—वल्लभः समागतः-ब. ङ. ट.। श्रीवल्लभः समा०-छ. ञ.। ९—इति-इति विशेषः ज.। १०—तान्त्रिको-ज.। यान्त्रिको-क. ख. ग. घ. झ. ट. ११—गत्वोपविष्टम्-छ.। सर्वसन्मानं गृहीत्वोपविष्टः-झ.। समागत्य-ञ.। तदातिथ्य-मङ्गीकृतमुपविष्टञ्च-ज.। गत्वा०० विष्टः ट.।

तेनाऽ१ध्ययनादिकमपि पृष्टम् । तदा २ श्रीभागवतैकश्लोकस्य व्याख्यानं कृतम् । तच्छ्रुत्वा पुनस्तस्माच्छुश्रूषा ३ समजनि । आह च—कियत्कालमत्र स्थातव्यम्, श्रोष्येऽहं भवन्मुखाच्छ्री४भागवतम् । श्रीवल्लभेनोक्तम्—यदीश्वरेच्छा ५ ।

एतस्मिन्६नन्तर आगमोक्तविधिना रामानन्दो विष्णोः पूजां ७ कर्तुमारेभे । तत्रैका शालिग्राम८ शिला, चतुर्भुजा९ भगवन्मूर्तिश्च । शालिग्रामशिलायां तस्य महती श्रद्धा, भगवन्मूर्तौ तादृशी न, तद्दृष्ट्वा श्रीवल्लभ १०स्तमाह, त्वमुभयत्र११ सादरं पूजां कुरु । रामानन्द आह१२—शालिग्रामशिला स्वायम्भवी१३, वज्रकीट१४ विनिर्मिता । प्रतिमेयं कृत्रिमा, अतः शालिग्रामे विशेषः । श्रीवल्लभस्तमाह१५—प्रतिमां साक्षाद्द्रष्टुव्याऽऽचर्य, शालिग्राम१६ शिला तन्मन्दिर१७मिति । यथोक्तं स्कान्दे—

---

१—तेनोक्तं किमधीतं तच्छ्रुत्वाऽऽचार्यैः श्रीभागवतश्लोकैकस्य-ज. । २—तत्र श्रीभा० श्लोकैकव्याख्यानं श्रुत्वा पुन० क. ख. ग. झ. ट. । भाग० श्लोकस्यैकस्य व्याख्यानं कृतं श्रुत्वा पुनः-ज. । ३—तस्य-इति विशेषः ञ, । समजनि रामानन्दस्य, स आह च-भवद्भिः-ज. । ४—श्री-इतिनास्ति ब. ञ. । ५—०च्छेति-ज. । ६—तन्त्रान्तरे झ. । ७—पूजनं-ट. । ८—शैला चतुर्भुजा भगवन्मूर्तिः शालिग्रामशिला च—ञ. अ. । ९—एका शिलामयी चतुर्भुजमूर्तिः झ. । १०—श्रीमदाचार्या स्तमाहुः—ज. । ११—उभयोः—झ. । उभयत्र समानां—ञ. । १२—अब्रवीद्रामानन्दः—घ. ङ. ट. । रामानन्दोऽब्रवीत्—झ. । १३—प्रायः स्वयंभवा—ञ. । १४—०टङ्क—ट. । १५—०आचार्या-स्तमाहुः—ज. । १६—शालिग्राम०-इत्यारभ्य-मन्दिर मित्यन्तं नास्ति-घ. ङ. ट. । १७—भगवन्—झ. ।

"न तथा रमते लक्ष्म्यां[1] न तथा स्वपुरे हरिः।
शालिग्रामशिलाचक्रे स[2] यथा रमते सदा॥"

अतः शालिग्रामशिला मन्दिरमेव। तथा च[3] पाद्मे—

"अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धिः।
विष्णोर्वा[4] वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धिः।
श्रीविष्णोर्नाम्नि मन्त्रे कलि[5]कलुषहरे शब्दसामान्यबुद्धिः।
विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमधी[6]र्यस्य वा नारकी सः॥"

श्रीजगन्नाथविट्ठलनाथादिस्वरूपेषु[7] साक्षात्त्वं लोके[8] प्रसिद्धम्। एवं श्रीवल्लभोक्तं श्रुत्वाऽपि रामानन्दो न[9] मेने। एवं मध्याह्न-पूजायां विवादः समजनि। रात्रिपूजायामपि श्रुत्वा न मानयामास। तदा[10] वल्लभस्य चित्ते[11]रोषः समजनि[12]। निशि रामानन्देन सम्पुटमध्ये भगवत्प्रतिमामुत्तानशायिनीं कृत्वा हृदि शालिग्राम-शिला स्थापिता।

ततो व्यतीतायां रात्र्यामरुणोदये[13] स्नानं कृत्वा पूजां कर्तुमुभा-

---

१—लक्ष्म्या—क. ख. ग.। २—यथा स रमते हरिः—ज.। ३—तत्रैव—ज. ञ.। ४—वैं—क. ख. ग. घ. ङ. च.। ५—ऽखिल० छ झ ट। नर०—ज.। ६—कुमतिः-ज.। ७ नाथ प्रतिमायां-क. ख. ग.। ०लेश्वर प्रतिमायां सा० लोक प्र०-ज. ञ.। नाथप्रतिमायां तु-झ. ट.। ८—केवलं-छ.। ९—न मानयामास- घ. ङ. छ.। १०—तदा-इति नास्ति क. ख. ग. ज. ञ. ट.। ११—चित्ते-इति नास्ति क. ग. घ. ङ. झ. ट.। १२—समभूत्-घ. ङ. छ.। १३—०दयवेलायां स्नातुं पूजां कर्तुमुभावपि गतौ-ज. झ. ञ.।

वपि भ्रातरौ[1]गतौ, कृता[2]वश्यकनित्यौ जातौ। यदा रामानन्दः पूजार्थं सम्पुटमुद्घाटयामास[3], तदा शालिग्रामशिला द्वादशधा खण्डशो जाता । तद्[4]दृष्ट्वा तस्य शङ्करमिश्रनाम लघुभ्राता तमाह—रामानन्द भ्रातः[5] ! त्वं व्रज पृच्छ, कोयं महानुभावः, यद्वाक्याकरणे महाननर्थः समजनि । ततो[6]गत्वा तेन पृष्टम्, तदा[7] श्रीवल्लभैः किमपि नोक्तम् । ततः श्रीवल्लभस्तीर्थान्तरं प्रस्थितः ।

श्रीवल्लभेन[8] नववर्षपर्यन्तं पञ्चदशशतयोजनैरेका प्रदक्षिणा कृता । एवं तीर्थाटनव्याजेन प्रदक्षिणाद्वयं कृतम्[9] । व्युपारमत् ,

---

१—भ्रातरौ-इतिनास्ति क. ख. ग. ट. । २—स्नात्वा कृता० ख. । ३—घाटितवान्-ख. । ०घाटयति-ज. । ४—तान्दृष्ट्वा लघुभ्रातमाह, लघु भ्राताऽतमाह घ. ङ. च. छ. । तथा दृष्ट्वा तस्य शङ्करमिश्रनामा लघुभ्राता यस्तमाह रामानन्दः ज. । ५— सम्भ्रान्तस्त्वं क. ग. । ६—तं—क. ख. ग. । तदा तेन गत्वा पृष्टं, तैरुक्तं-ज. । ७—तदेत्यारभ्य श्रीवल्लभः इत्येतत्स्थाने-यथा शालिग्रामशिला जाता तथाऽयमपि भविष्यति, इत्युक्त्वाऽसौ० क. ख. ग. ब. । तदा वल्लभेन न किञ्चिदप्युक्तं तदा यथा शालि०—भविष्यति-इति मनसि कृत्वाऽसौ ख. । तदाचार्यैरुक्तं, यथा०—तथा त्वमपि भविष्यसि-ज. । ८—श्रीवल्लभेन नववर्षपर्यन्तं भूमौ० क. ख. ग. । श्रीवल्लभेन वर्षपर्यन्तं भूमेः पञ्चशतयोजनाया एकप्रदक्षिणा कृता-घ. ङ. च. श्रीवल्लभो नववर्ष-पर्यन्तं भूमौ पञ्चदशशतयोजनामेकां भूप्रदक्षिणां स्वयं तीर्थाटनव्याजेन कृतवान्, ततः प्रदक्षिणाद्वयं पुनःकृतवान्-ज. । ९—कृतवान्-ज. । कृत्वा व्युपरराम-ट. ।

असङ्ग्रही, एकः सेवको मेवनकृष्णदासः१ सङ्गेऽभूत् । मरुस्थले, पर्वते, जले वा यात्रद्भोजनादिकर२मपि नावलोक्यते, तावदीश्वरेच्छया यत्र कुत्रापि भोजनादिप्राप्तिर्भवत्येव, न तदधिक३सङ्ग्रहोऽपेक्षा च । सङ्ग्रहस्त्वेतावदेव४—श्रीभगवद्गीता, भागवतमूलपुस्तकं, शालिग्रामशिलैका५ ।

यद्दिने रामानन्दगृहात्प्रस्थितं तस्मिन्दिने६ कस्यापि७ प्राप्तिर्न जाता, महदसुखं समजनि। रामानन्दगृहे रात्रौ स्वप्ने८ श्रीवल्लभं प्रति भगवतोक्तम्—"त्वमेनं भागवतं श्रावय" तद्दोषवशान्न श्रावितम्९, तत एवं जातम् । पुनर्यत्र गत्वा सुप्तं तत्र स्वप्ने तु श्रीकृष्ण-कृष्णद्वैपायनौ दृष्टौ । श्रीकृष्णः कृष्णद्वैपायनं प्रत्युवाच—"त्वत्तः श्रीभागवतं प्रादुरासीत्, तदर्थज्ञापनाय मन्मुखमेवाग्निर्वल्लभो-ऽयमवतीर्णः । मदाज्ञया१०ऽपि मदीयान्प्रति भागवतार्थं११ न कथयति ।" तदा व्यासेन श्रीवल्लभाचार्या१२ आज्ञप्ताः—भगवदा-

---

१—कृष्णदास नामा इत्येव जातिरिक्तेषु । २—०दिकमवलोक्यते-न-ट. । भोजनादि प्रतिदिनमालोक्यते-ख. । भोजनादि प्रतिदिनमवलोक्यते झ. । ३—तदधिकं क. ख. ग. । सङ्ग्रहापेक्षाच-च. ज. ट. । व ततोऽधिका सङ्ग्रहापेक्षा च—झ. । ४—सङ्ग्रहस्त्वेतावा० इति नास्तिझातिरिक्तेषु । ५—च पार्श्वे वर्तते अथ यद्दिने-इत्यधिकं ज. । ६—तद्दिने ज. । ७—किमपि—क. ख. ग. ज. झ. ट. । ८—स्वप्ने भगवतोक्तम्—क. ख. ग. ट. । ९—कृतं—क. ख. ग. झ. ज. ट. । १०—ममाज्ञया—ज. ट. । ११—०तार्थं कथयिष्यति—झ. । १२—श्रीवल्लभं प्रत्युक्तं—ज. । ०चार्य प्रत्याज्ञप्तं भोः ! ज. ।

ज्ञया भागवतार्थः प्रकटनीयो वक्तव्यश्च। ततः श्रीवल्लभो भगवन्तं[1] प्रत्याह—रामानन्दोऽयं त्वदीयो न वा? भगवानाह—मदीय एव। श्रीवल्लभ आह—नायं[2] ममाज्ञाकारी। भगवानाह—"अयं कस्मिंश्चित्संग्रामेऽर्जुनपुरःसरो भूत्वा प्राणानत्रासृजत्। अस्य जन्मनां सहस्रं भावि, तेन त्वदुक्तं सिद्धान्तं न मन्यते। बहिर्मुखश्च भविष्यति। त्वयास्य पुनर्गृहं[3] गत्वा भागवतं वक्तव्यम्।" ततः श्रीवल्लभेन प्रार्थितः श्रीकृष्णो जन्मशतमवशेषतया कृतवान्। ततस्तैः[4] प्रबुद्धम्—पुनस्तद् गृहं गत्वा स्वमार्गदीक्षामस्मै[5] दत्त्वा कियद्भागवतं कथितम्। तदुत्पन्ना शङ्करनामा सर्वात्मना श्रीवल्लभं प्रपन्नः। यः[6] प्रभुदास इति विश्रुतः।

ततः श्रीवल्लभः काश्यामाजगाम। एतस्मिन्नन्तरे श्रीकृष्णस्याज्ञा जाता—"त्वं गृहस्थो भव[7]"। श्रीवल्लभो न तन्मेने। तदा महानुपद्रवो धूर्तेभ्यः कष्टपाशलक्षणः समजनि। ततस्तैर्विचारितम्—पूर्वं तीर्थाटनं[8] कुर्वतो मम किमप्युपद्रवो न जातः, सम्प्रत्यत्र स्थानेऽपि[9] जातः। एवं तत्क्लेश[10]मुक्तं विचार्य सुप्तम्। पुनः स्वप्ने

---

१—श्रीकृष्णं—म.। २—ममाज्ञा कार्यं ऽयं न—ट.। ३—गृहे—म. ब. ट.। ४—तेन—म. भ.। ५—अस्य-जातिविक्तेषु। ६—यः इति नास्ति भ.। प्रभुदास इति नाम्ना ब.। ७—भवेति-ज.। ८—तीर्थाटने कोप्युपद्रवो न जातः—ट.। ९—अपि इति नास्ति ब. म.। अति जातः—ज.। १०—तत्कृच्छ्रान्मुक्तैः—म.। क्लेशान्मुक्तेन—ज.। तत्क्लेशात्मुक्तैः—क. ख. ग. ट.।

श्रीकृष्णेनोक्तम्—"विवाहं १ कुर्विति ।" श्रीवल्लभो भगवन्तं प्रत्याह—किं गृहाश्रमेण, अहं त्वयैव२ कृतार्थोऽस्मि, न विषयेषु मे मनः३। भगवानाह—तव४ गृहेऽहमवतितीर्षुरस्मि रूपद्वयेन। तयोर्नाम्नी—गोपीनाथविट्ठलेश्वरौ। इति भगवद्वाक्यात्स्वप्नान्ते क्रमेण काश्यां गतम्५। तत्र गत्वा विवाहमकार्षीत्। अग्निपरिग्रहश्च६ कृतः। ततोऽग्निहोत्रादिविधिना यथादेशं७ यथाकालं भगवन्तं नानायज्ञैरियाज।

ततः पुनरेकदा श्रीकृष्णस्याज्ञा समजनि। "मायावादिभिःसार्द्धं विवादं कृत्वा८ मायावादमपनय।" ततः सुदिन९मवलोक्य भगवतो मृडानीपते१०र्विश्वेश्वरस्य११ द्वारि पत्रावलम्बनं कर्तुमारेमे। तद्यथा लिखितम्—

"श्रीकृष्णस्य प्रसादेन मायावादो निरा कृतः।
अवैदिको, महादेवस्तत्र साक्षी न १२ संशयः॥
ये वैदिका महात्मानस्तेषाञ्चानुमितिस्तथा।
अवेदविन्न मनुते मया१३ चोपेक्षितः पुनः॥

---

१—विवाहमित्यारभ्य०-मे मनः इत्येतत्स्थाने गृहस्थो भव, तदा श्रीवल्लभेनोक्तं न विषयेषु मन्मनः—ट.। २—त्वयैव,—क.। ३—मन्मनः—क.। ४—त्वद्गृहे बलदेवेन सहाहमवतितीर्षुरस्मि स्वरूपद्वयेन—ज.। ५—गतः—क.। ६—च-इति नास्ति क. ख. ग.। ७—यथादेशं-इति नास्ति-क। ८—कुरु-ट.। ९—मुहूर्तादिकं-इति विशेषः ज.। मुहूर्ताद्य०-इति विशेषः क. ञ. ट.। १०—विमुक्तिपतेः-इति विशेषः ज. ञ.। ११—विश्वेश्वरस्य-इति नास्ति क.। १२—च शङ्करः-घ. ङ. च. छ.। १३—अविद्वचप्यनुमते यथा० क.।

स्थापितो ब्रह्मवादो हि सर्ववेदान्तगोचरः ।
काशीपतिस्त्रिलोकेशो महादेवस्तु१ तुष्यतु ॥
कस्यचित्तत्र२ सन्देहः स मां पृच्छतु सर्वथा ।
न भयं तेन कर्तव्यं ब्राह्मणानामियं गतिः ॥
डिण्डिस्तु वादितो द्वारि विश्वेशस्य मयात्र हि ।
विद्वद्भिः श्रवणं कार्यं ते३हि सन्मार्गरक्षकाः ॥"

तत्र ये विद्वांसो ब्राह्मणाः सन्यासिनश्च शब्दब्रह्मणि कृतश्रमाः पत्रावलम्बनं श्रुत्वा सर्वे४ समेत्य श्रीवल्लभं५ पप्रच्छुः—को मायावादः, किंलक्षणः६, यो भवद्भिर्निराक्रियते । को ब्रह्मवादो यो भवद्भिः स्थाप्यते । तावदिदं वक्तव्यम् । श्रीवल्लभै७रुक्तम्—भवन्तो ब्रुवन्तु—किं ब्रह्म, कीदृशोऽयं प्रपञ्चः, कीदृग्जीवः । ततस्तैरुक्तम्—मिथ्या प्रपञ्चः, निर्धर्मकं ब्रह्म, जीवो व्यापक८त्वाद् ब्रह्मैवेति वेदार्थो भगवता शङ्कराचार्येण९ दर्शितः । तच्छ्रुत्वा श्रीवल्लभ आह—अयमेव१० मायावादः, मयाऽसावेव११ निराक्रियते । ब्रह्मवादलक्षणं श्रूयताम्—सत्योऽयं प्रपञ्चः, सधर्मकं१२

---

१—ऽपि-ख. । तुष्यति-क. ख. ग. । २—स्वय-क. ख. ग. घ. ङ. ट. । ३—ये-घ. च. छ. । ४—पत्रावलम्बनं० सर्वे-इति नास्ति-व्यतिरिक्तेषु । ५—०माचार्यान्-ज. । ६—किंलक्षणः-इति नास्ति घ. ङ. च. छ. । ७—वल्लभेन-क. ख. ग. ङ. ज. ट. । ८—व्यापकत्वद्ब्रह्मैव-व्यतिरिक्तेषु । ९—०चार्यदर्शि-क. ख. ग. । १०—एवं व्यतिरिक्तेषु । ११—स एव-घ. ङ. च. छ. । सर्वं एव-ट. । १२—एव इति विशेषः ज. ।

ब्रह्म, अणुरेव जीवः, इति वेदार्थो भगवता कृष्णद्वैपायनेन दर्शितः१। ततः२ सक्रोधैस्तैरुक्तम्—कस्त्वम् ? ३ यः शङ्करमतं दूषयसि । तदा श्रीवल्लभैः४रुक्तम्—भगवतः श्रीपुरुषोत्तमस्याज्ञयाऽऽसुरप्रकृतीनां मोहायाऽस्माववतीर्णः । यथोक्तं पाद्मे भगवता५—

"द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु ।
स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च६ जनान्मद्विमुखान्कुरु ॥"

अतो ज्ञायते न तन्मतं७ व्यासस्याभिमतम् । अतो यथा श्रीकृष्णेन गीतायां सर्वोपनिषदा८मर्थ उक्तस्तथैव बादरायणेन "अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति" ब्रह्मसूत्रेषूक्तः । तथैव श्रुतिकल्पतरोः फले श्रीभागवते । एवं क्रमोऽङ्गीकर्तव्यो भवद्भिः । यथोक्तम्—

"बुद्धावतारे त्वधुना हरौ तद्वशगाः सुराः ।
नाना मतानि विप्रेषु भूत्वा कुर्वन्ति मोहनम्९ ॥"

अतो यूयं वेदार्थाद् भ्रान्ताः, वेदार्थं विचिनुत१० । तच्छ्रुत्वा सक्रोधैस्तैरुक्तम्—अहो वयं परम्परा११चार्यैर्दर्शितं वेदार्थं जानीमः,

---

१—प्रदर्शि क. ख. ग. । प्रदर्शितः, ञ. । २—तदा-छ. । ३—किं शङ्कर० घ. ङ. च. छ. । ४—०भैनोक्तं क. ख. ग. झ. ञ. ट. । ५—भगवता-इति नास्ति-छ. झ. ट. । ६—त्वं हि—ञ. । ७—तन्मतं००० भिमतं न, ख. झ. ञ. ट. । ८—०षदर्थं—छ. ज. झ. ट. । ९—यथा कथञ्चित्कृष्णस्य भजनं वारयन्ति हि—इत्यधिकः झ. । १०—विचिन्वन्तु-क. ख. ग. झ. ट. । विचिनुथ-घ. च. छ. । ११—०म्परया—ञ. ट. । ०चार्यवर्णितम्—ञ. ।

त्वं तं१दूरीकृत्य पाषण्डं स्थापयसि । तच्छ्रुत्वा श्रीवल्लभैर२-रुक्तम्—पाषण्ड३लक्षणं भवत्स्वेव, यतः शिखासूत्रे न दृश्येते । ततस्तैरुक्तम्—श्रुतिष्वेव संन्यासिनां शिखासूत्रपरित्याग उक्तः । इत्युक्त्वा श्रुतयः पठिताः । श्रीवल्लभ आह—कल्पितास्त्विमाः४, सम्प्रति श्रुतीनामेकादश५ शाखाः प्रचरन्ति, तासु संन्या-सिनां६ धर्माः पठिताः सन्ति । तासु चेत्तर्हि पठ्यताम् । उच्छिन्न७ शाखाश्रुतयो न पठनीयाः प्रमाणाभावात् । इत्युक्ते८ तैः किमपि नोक्तम् ।

एवं९ षण्मासं यावद्विवादः समजनि । तदोपेन्द्राश्रम१०नामा संन्यासी सर्वश्रेष्ठः, तदग्रे मध्यस्थैरुक्तम्—अयं कोऽप्यमानुषो विवादे जेतुमशक्योऽतोऽलं विवादेन । ततः ११ कैश्चिद् दुरात्मभिर्मारणो-द्यमः कृतः । तदा श्रीमहादेवेनाऽऽज्ञा दत्ता—अत्र न स्थातव्यम्, यत्र भागवती सृष्टिस्तत्र गन्तव्यम्१२ । सर्वोपनिषदुपगीतं श्री-कृष्णाख्यं परं ब्रह्मोपदेष्टव्यम्, अत्र यादृशी भगवदिच्छा तादृशमस्ति ।

---

१—तद्-ब. ज. । तदुक्तस्य-म. । २—०भैन०क. ख. ग. म. न. ट. । ३—पाषण्डलिंगं घ. च. छ ज. म. ट. । पापचिह्नलिंगं-ब. । ४—परमहंसोपनिषदाख्यया ख्याता इति विशेषः न. । ५—०मनेकाः शाखाः सन्ति-म. ट. । ६—संन्यासधर्माः—ब. ज. । ७—उत्सन्न—म. ट. । ८—सति-अतिरिक्तेषु । ९—एवं इत्यारभ्य समजनि इत्यन्तं नास्ति—घ. छ. च. । १०—उपेन्द्रनामा—ब. म. ज. ट. । ११—ततः इत्यारभ्य कृतः इत्यन्तं नास्ति—घ. छ. च. । १२—गत्वा—ब. ।

ततो दूरे च्यवना[1]श्रमे चरणाद्रि[2]रिति नगरम्, तत्र वसतिः कृता। तत्रैकदा[3] गङ्गास्नानं कुर्वतः श्रीवल्लभस्य शङ्कराचार्यः प्रादुर्बभूव, आह च—त्वया मन्मतं दूषितम्। एतस्मिन्नन्तरे श्रीकृष्णः प्रादुर्बभूव, आह च—सत्यमेव वल्लभमतं प्रवर्तयिष्ये[4] न शङ्करोक्तम्। श्रीवल्लभ![5] त्वं गोकुलं गच्छ। इत्युक्त्वाऽन्तर्हितः।

ततः[6] श्रीवल्लभः साग्निहोत्रो मथुरामण्डलमाजगाम। तत्र बृहद्वने गोविन्दस्थले भगवन्मन्दिरं कृत्वा भगवत्सेवां[7] कर्तुमारेभे। तत्र कश्चित्[8]काश्मीरदेशीयः केशवभट्टनामाऽऽराधितशङ्करस्तत्प्रसाद[9]प्राप्त वैष्णवधर्मः पूर्वं[10]कृतवसतिः स्म। तयोः परस्परं मैत्र्यभूत्। श्रीवल्लभस्यालौकिको भागवतार्थः केशवभट्टेन ज्ञातः। प्रार्थितञ्च—अत्र श्रीभागवतं व्याख्येयम्। भवान् वक्ता श्रोता चाहम्। ततः[11] सुदिनमुहूर्तावलोक्यादितः श्रीभागवतव्याख्यानमारब्धम्। कालक्रमेण

---

१—पावना—घ. च. छ. ट.। भावना—क. ख. ग.। २—चरणाद्र—घ. ङ. च. छ.। ततो गङ्गातोराश्रितकर्णाटक-इति—झ.। कार्णाट—ट.॥३—तत्रैकदा इत्यारभ्य मन्दिरं कृत्वा भगवत्-इत्यन्तं नास्ति—घ. ङ. च. छ.। ४—प्रवर्तयिष्यते—ट.। वल्लभोक्तं, प्रवर्तिष्यते शङ्करोक्तम्—ञ.। ५—श्रीवल्लभ-नास्ति झातिग्रन्थेषु। ६—ततःनास्ति ट.। ७—भगवत् इति नास्ति झ ट। ८—कश्चित् इति नास्ति—घ. ङ. च. छ. झ. ट.। ९—श्रीवल्लभप्रसादात् झ.। १०—पूर्वंवत्तत्र वसति स्म-ञ.। ११—तत इत्यारभ्य-आदित. इत्येतत्स्थाने तत्र इति घ. ङ. च. छ.।

समापितम्१। ततः केशवभट्टेनोक्तम्—मया पूर्वं यादृशोऽर्थो भागवतस्यावधारितः सोऽपि गतः, श्रीमदुक्तो२ऽपि मे३ हृदि न समागतः४, तत्किम्? ततः५ श्रीवल्लभै६रुक्तम्—यत्७समासन उपविश्य त्वया श्रुतमतस्ते हृदि नागतम्। न मया कदाचिदपि विकृतं वृत्त्यर्थे। अतो मदुक्तमन्योक्तसदृशं मा जानीहि। मया त्वामुद्दिश्य नोक्तम्। त्वच्छिष्योऽयं माधवभट्टनामा,९ अयं मे भ्राता, मह्यमेनं देहि। ततः केशवभट्टेन त्रिभिरन्यैः श्रोतृभिः१० सह श्रीवल्लभाय समर्पितः। ततस्तस्या११त्मसमर्पणं कारयित्वाऽऽत्मीयं विधाय श्रीभागवतटीकाया लेखने श्रवणे चाधिकारी१२ कृतः।

ततोऽन्यः कश्चित्कान्यकुब्जीयो नारायणमिश्रनामा१३ विवादे पराजितः, सोऽपि श्रीवल्लभस्य शिष्योऽभवत् तादृशश्च१४।

---

१—समाप्तम्—क. ख. ग. छ. ज. झ. ट.। पूर्वं वर्तं झ.। २—त्वदुक्तो क. ख. ग. ज. झ. ञ ट.। ३—न मद्धृदि समा० ञ.। ४—समायातः झ.। मद्धृद नागतः—ज.। ५—ततः—इति नास्ति—छ. झ. ट. ६—श्रीवल्लभेन—झ. ञ. ट.। ७—यत् इति नास्ति वार्तिकेषु। ८—मया—इत्यारभ्य नोक्तम् इत्यन्तं नास्ति घ. ङ. च. छ.। ९—त्व प्रच्छ इति विशेषः छ.। अयं मे इत्यारभ्य-सार्द्धं० इत्येतत्स्थाने-एवं प्रपच्छ, ततस्तेनोक्तं मया तु सम्यग् ज्ञातं, तदा केशवभट्टेन त्रिभिरन्यैः सह सर्वोऽपि—घ. ङ. च.। १०—श्रोतृभिः इति नास्ति, सार्द्धं इति क, ख, ग. ज, ञ, ट.। ११—माधवभट्टस्य-इति विशेषः झ,। १२—असावेव महान् ज्ञाता—झ। १३—नामा श्रीवल्लभस्य० इत्येव क. ख. ग. ज. झ. ञ.। १४—ईदृश एव झ.।

ततः पाश्चात्याः सारस्वता १ ब्राह्मणाः, क्षत्रियाश्च बहवः सेवका अभवन् २ । एकैकस्य चरितं गुणाश्च ३ वर्षायुतेनापि वक्तुमशक्याः । तथैव प्राच्या दाक्षिणात्याश्च ।

अथैकदा श्रीवल्लभो गोकुले गृहाद्बहिः कृतचतुःसेवः४ स्नानालङ्कारचन्दनपुष्पमालाभिरलङ्कृतः, सुखेनाल्प५दिनावशिष्टकाल उदङ्मुखः सेवकैः सहोपविष्टः । तदोत्तरस्यां६ यमुनातीरे साक्षाद् व्रजराजकुमारः प्रकटी७बभूव, हस्तेनाकार्य यमुनामुत्तीर्य पश्चिमाभिमुखं प्रस्थितः । ततः श्रीवल्लभोऽ८पि वस्त्रादिकं तत्रैवोत्तार्य कौपीनाच्छादना९वशेषस्तत्र गत्वा तेनैव मार्गेण यमुनामुत्तीर्य भगवन्तमनुवव्राज१०, मथुरां दक्षिणतो विमुच्य यावद् गोवर्धनाचलम् । तत्र त्रिकूट११शिखरस्थं श्रीगोपालराजश्रीगोवर्धननाथाधिष्ठानम् । तत्र गत्वा भगवता स्थितम् । श्रीवल्लभं सन्मुखमवलोक्यावादीत्—अत्राहं श्रीगोकुलाच्छ्रीमद्राधिकया १२ समानीतः । त्वं दूरागमनेन क्लिष्टोऽसि, अथ १३

---

१—सारस्वताः इति नास्ति ट. । सारस्वत इति छ. । २—बभूवुः—म्क. । ३—सद्गुणाश्च क. ग. ज. ञ. । ४—कृतचतुःसेवः इत्येतत्स्थले-सेवकैः कृते चतुरस्त्रे वस्त्रलङ्कार० ज. । श्रीवल्लभः श्रीगोकुले गृहात्बहिर्भिः सेवकैः कृतचतुरसेवः स्नानालङ्कार० म्क. । ५—वान्त्य—म्क. । ६—तदोत्तरतः—म्क. ट. । ७—प्रादुः—म्क. ट. । ८—०भाचार्याः—इति बहुवचनान्त, पाठः समग्रेऽपि वाक्ये—ज. । ९—नाच्छादनमात्रा० म्क. १०—उपवव्राज—म्क. । उपजगाम ट. । ११—अन्नकूट—ज. म्क. ञ. ट. । १२—सह त्वया-इति विशेषः म्क. । १३—त्वं इति विशेषः—म्क. ।

शृणु, यावद्गङ्गा कलौ प्रकटजला १ तावदत्रैवास्मिन्नेव स्वरूपे त्वन्मार्गीयेभ्यः सेवां गृहीष्यामि प्रकटः सन् । अत्रैव मम प्राणवल्लभाया एकान्तविहारस्थलम् । सर्वदा यत्र सा, तत्राऽहमपि । यथोक्तं मयैव २ दशमस्कन्धे नन्दम्प्रति—

"न नः पुरो जनपदा३ न ग्रामा न गृहाश्च वै ४ ।
वयं वनौकसस्तात ! नित्यं शैलनिवासिनः ॥"

"शैलोऽस्मि"०—इति च तत्रैव । किमधिकम् । इत्युक्त्वाऽन्तर्हितं ५ भगवता तस्मिन्नेव स्वरूपे ।

ततः प्रभृति तत्प्रसिद्धं स्थानं वल्लभीयानां सर्वस्वम्६ । पूर्वं ७ विष्णुस्वामिबिल्वमङ्गलादीनां श्रीगोवर्धननाथ एव सर्वस्वम् । तत्तु८ "वंशगिर्याख्यायिका"—यां प्रसिद्धम् ।

यावच्छ्रीवल्लभेन भगवन्तमनुगतं तावत्तत्सेवकेन प्रभुदासाख्येनाक्षिणी निमील्य जलपानादिकं त्यक्त्वा तत्रैव स्थितम्९ ।

---

१—यावद्गोवर्द्धनो गिरिराजः इति विशेषः ज. । २—मयैव-इति नास्ति—ज. झ. ट. । ३—इतिवार्त्तापर्यन्तप्रवासप्राप्तप्राचीन—'ङ' संज्ञकपुस्तकमेतच्छ्लोक-पर्यन्तमेवापूर्वमुपलब्धम्—न नः पुरो जनप-इत्यन्तम् । ४—गृहाश्रमाः ङ- । ५—अन्तर्हितो भगवाँस्तत्रैव—ज. । ६—सर्वस्वं-इति नास्ति, ङातिरिक्तेषु । ७—पूर्वं-इत्यारभ्य प्रसिद्धमित्यन्तं नास्ति घ. च. । ८—तत्तु॰प्रसिद्धमित्येतस्यस्थले-एवं व्रजराजकुमारो वल्लभेन सहैवागत्य स्थितः—ङ. । ९—पतितं—क. ख. ग. ज. झ. ञ. ट ।

पुनः श्रीवल्लभे १ समागते वस्त्रालङ्कारवति२ दृष्टे सति जलपानादिक्रिया कर्तुमारब्धा।

पुनः कालान्तरमवाप्य श्रीवल्लभः कतिपयसेवकैः सार्द्धं३ श्रीगोवर्धननाथालयमाजगाम ४। तत्र ५ सर्वसमक्षं दधिदमण्डनवनीतपात्रं गृहीत्वा श्रीराधिका भगवन्मन्दिर७मध्ये प्रविष्टा तत्रैवान्तर्हिता। ततो भगवन्मुखे नवनीतदधिमण्ड८लेपः सर्वैः प्रत्यक्षतो दृष्टः। एवं बहून्याश्चर्याणि दृष्टानि।

पुनर्गोकुलमागते श्रीवल्लभे सेवकैस्तदाज्ञया मृण्मयं चतुरस्रं कृतम्, तत्र रात्रौ बालकृष्णेन क्रीडितम्। तत्र तच्चरणचिह्नानि सर्वैर्दृष्टानि। पुनः समयान्तरे—

"ब्रह्म९सम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि"—

इत्येतावच्छ्रीवल्लभं प्रति भगवता प्रोक्तम्।

---

१—बहुवचनान्तः पाठः सर्वत्र अग्रेऽपि—ज.। २—वस्त्रालङ्कार-इत्यारभ्य आरब्धा-इत्येतस्थाने भगवत्साक्षात्कारो जातः, अनन्याश्रयत्वात्—घ. च. छ.। ३—सह—ज.। ४—जगाम—घ. च. छ. ज.। ५—तत्र इत्यारभ्य-अन्तर्हिता-इत्यन्तं नास्ति—घ. च.। ६—दध्योदनमिष्टनव०—झ.। ७—मन्दिरं प्रविष्टा—ट.। ८—दधिलग्नं००दृष्टम्—ज.। ९—ब्रह्मसम्बन्ध०-इत्यारभ्य प्रोक्तं इत्येतस्थाने "श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि इति नव श्लोकाः श्रीवल्लभं प्रति साक्षाद्भगवतोक्ताः—क. ख. ग. ज. झ. ञ. ट.।

पुनरेकदा कश्चिद्वैष्णवः१ श्रीकृष्णदर्शनाकाङ्क्षी "हा! कृष्ण" इत्युच्चैर्ब्रुवन् वृन्दावनं बभ्राम। तदा भगवता श्रीवल्लभं प्रत्युक्तम्—त्वं२ तत्सेवकसमीपं गत्वा "नीचैः कृष्णेति वद, कृष्णं द्रक्ष्यसि" इति, तथैव श्रीवल्लभः कृतवान्। ततस्तस्य३ गोकुलपतिः४ प्रकटः समभवत्। तिरोधानानन्तरं श्रीवल्लभमेव प्रपन्नो जातः।

कश्चिदज्ञातारे श्रीवल्लभशिष्यो भगवत्सेवां कुर्वाणस्तिष्ठति। एकदा भगवाँस्तमाह—अतस्तूर्णायेऽहं त्वां क्वापि५वैकुण्ठं नेष्यामि। इति श्रुत्वा तस्य महद्दुःख६मजनि७, सेवारसिकत्वात्। तथापि८ तत्तथैव जातम्।

पुनरेकदा गोकुलात्प्रयागादिस्थलेष्वीश्वरेच्छया वसतिं कुर्वाणः श्रीवल्लभः साग्निहोत्रः श्रीपुरुषोत्तमायतनं जगाम९। कालक्रमेण तत्र१० प्राप्तः। तत्रैको महाभक्तः११ कृष्णचैतन्यनामा। तस्य श्रीपुरुषोत्तम१२स्याज्ञा जाता। "मद्रूप१३श्रीवल्लभनामाऽत्रायातः१४,

---

१—सेवकः—ब. ट.। तत्सेवकः—क्र. म.। २—त्वं—इति नास्ति—क्र. मातिरिक्तेषु। ३—तस्मै गोकुलपतेः प्राकट्यमभवत्—घ. च. छ.। ४—०पतिप्राकट्यं जातं—ब. म. ट.। ५—क्वापि—इति नास्ति—क. ख. ग. ज. क्र. म. ट.। वैकुण्ठे—ख.। ६—दुःखं—घ. च.। ७—समजनि—क्र. ट.। अभवत्—ज.। ८—तथापि इति नास्ति घ. च. छ.। तत्रापि—म.। ९—प्रस्थितः—घ. च. छ. ज. क्र. म. ट.। १०—पुरुषोत्तमायतनं—क. ख. ग. ज. क्र. म. ट.। ११—महाविष्णुभक्तः—घ. च. छ.। १२—प्रभूणा-माज्ञा—ज.। १३—मद्रूपमेव—क. ख. ग. ज. क्र. म. ट.। १४—ऽऽगतः ज.।

तं मदग्रे सद्[1]बुद्ध्याऽर्चय" । इति जगन्नाथवाक्यात्तथैवाऽसौ कृतवान् ।

एकदा[2] पूर्वं गङ्गातीरे वसतः श्रीवल्लभस्य गृहे श्रीकृष्णचैतन्यैः[3] समागतम् । तमदृष्टपूर्वं दृष्ट्वा श्रीवल्लभेनोक्तम्—इमे[4] कृष्णचैतन्याः, इत्युक्त्वा नमस्कृताः । तत्समये मध्याह्नभोगानन्तरं भगवति शयनं गते सति स्वधर्मपत्नीं[5] श्रीवल्लभोऽब्रवीत्—भोः ! मदाज्ञया त्वमस्मै सुपक्वमन्नं भोजय । पत्नी प्राह—अनिवेदितं कथं देयम् ? तदा श्रीवल्लभेनोक्तम्—देयमेव, अस्य हृदयस्थः श्रीकृष्णो भोक्ष्यत्येव ।

एकदा[6] श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रे[7] श्रीवल्लभशिष्यान्प्रति कृष्णचैतन्यै[8]रुक्तम्—भवद्भिः श्रीवल्लभे गुरुबुद्धिर्न कार्या, न वा पण्डितबुद्धिः, न वैष्णवबुद्धिः, अयं तु साक्षाद्देवकीपुत्र एव । एवं[9] तत्र बहून्याश्चर्याणि जातानि[10] । पुनस्ततो मथुरामण्डलं प्रत्याजिगमिषाऽजनि ।

---

१—मद्बुद्ध्या—क. ख. ग. ज. झ. ञ. ट. । ऽस्मद्बुद्ध्या—छ. । २—एकदा इत्यारभ्य भोक्ष्यत्येव इत्यन्तं नास्ति—घ. च. छ. । ३—चैतन्येन—ज. ञ. । ४—यूयं—ज. ञ. । ५—श्रीवल्लभैराज्ञप्ता पत्नी पक्वमन्नं देहि, पत्न्याह—आतिरिक्तेषु । श्रीवल्लभाज्ञया पत्नी सिद्धमन्नं चकार । पत्न्याह०—झ. । श्रीवल्लभा० पत्न्या पक्वमन्नं० ट. । ६—तदा—घ. च. छ. । ७—श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रे इति नास्ति ज. । ८—चैतन्येन—ज. ञ. । ९—एवं—इतिनास्ति ज. शतिरिक्तेषु । १०—दृष्टानि—ट. ।

एकदा गङ्गातीरे वसतः श्रीवल्लभस्य ज्येष्ठसुत[1]श्रीगोपीनाथस्य[2] जन्मनि जाते, भगवत्सेवां कुर्वाणस्य पृष्ठे रिङ्गमाण[3]शिशोः स्पर्शः समजनि, सेवायां चेतो व्यग्रमभूत्[4]। तदा स्वभार्यायै क्रुद्धः—"त्वया कस्माच्छिशुर्न रक्ष्यते"[5]। पत्न्याह—शिशुः सुप्तोऽस्ति। तच्चरितमपि भगवदीयं[6] मत्वा तूष्णीमासीत्।

श्रीवल्लभस्याज्ञया[7] यः काश्मीरदेशीयो माधवभट्टनामा[8] भगवत्सेवार्थं स्थितोऽभूत्[9], सोऽनुदिनं दशमस्कन्ध-नवरत्न[10]-पाठं करोति स्म। एकस्मिन्दिने[11] यत्र स्थीयते तत्र ग्रामाधिपतेः सप्तदशवार्षिकः पुत्रो मृतः, तस्य महद्दुःखं जातम्। तस्मिन्समये

---

१—पुत्र—ञ. ㅤ झ. ञ.। २—०नाथजन्मनि—इतिरिक्तेषु। ३—रिङ्खमाणस्य—झ.। ४—अभवत्—ज.। ५—रक्ष्यते—ज.। ६—भगवत्कृतं—झ.। ७—आज्ञया—इति नास्ति ज. झ. ञ.। ८—नामास्ति—क. ख. ग. घ. च.। गङ्गाद्वारे—इति विशेषः ज. ञ.। ९—तदाज्ञया स्थितः—इति विशेषः ज. झ. ञ.। अभूत्—इति नास्ति आतिरिक्तेषु। १०—पञ्चरत्न—क. ख. ग. ज. झ. ञ. ट। ११—एकस्मिन्दिनेत्यारभ्य—पुनः प्रेषितः इत्येतत्स्थाने—एकदा निशि स्वप्ने केनाप्युक्तम्। तव परेद्युः सनत्कुमार-दर्शनं भविष्यतीति प्रबुद्धः। ततः परेद्युर्मध्याह्ने एकाकी भगवद्वायु-पविष्टः पञ्चहायनं बालं ददर्श। बालोऽपि भगवन्तं नमस्कृत्य मां ब्रह्म-विष्टामार्यं जानीहीत्युक्त्वाऽन्तर्हितः। ततो माधवभट्टेन श्रीवल्लभस्याग्रे आगत्य कथितं तच्छ्रुत्वा श्रीवल्लभेन माधवभट्टो द्वारकां प्रेषितः। इति विशेषः क. ख. ग. ज. झ. ञ. ट.।

एकेनोक्तम्—यत्र माधवभट्टानां स्थितिस्तत्र महाननर्थः कथम्? इदं श्रुत्वा तेषां गृहे समागत्य रोदनं चकार। पश्चात्तेषां मनसि दयाऽऽगता। ततः सः प्रभुस्तविधमेकं पद्यं लिखित्वा स्थापितवान्। तत्पद्यम्—

"दयालोरसमर्थस्य दुःखायैव दयालुता।
विश्वोद्धरणदक्षस्य सा तवैकस्य शोभते ॥"

पश्चात्प्रभुणोक्तम्—"जीविष्यति"। तत्र तु एवं जातमेव। परन्तु "महान्भविष्यामि, दासलक्षणं गत"मिति भिया रात्रौ पलायितम्। यत्र श्रीमदाचार्याणां स्थितिस्तत्रागतं श्रीमद्गोवर्धननाथदर्शनार्थम्। माधवभट्टेन श्रीवल्लभानामग्रे कथितम्। तच्छ्रुत्वा श्रीवल्लभैर्माधवभट्टः पुनः प्रेषितः।

एत[1]स्मिन्नन्तरे सिद्धपुरवासी राणाख्यो व्यासवैष्णवः स्थानेश्वरवासिरामानन्दशिष्यो भूत्वा सिद्धपुरे सेवां कर्तुमारेभे। तत्र बहवो गुर्जरदेशीयास्तं प्रपन्नाः। तेषां मध्ये एको द्विवेदिगोविन्दनामा, तत्पिता नारायणदासश्च[2], उदीच्यो[3] वत्सा[4]भट्टाख्यश्च। वत्साभट्टाख्यस्य पत्नी[5] पुत्रौ द्वौ द्वारकायामग्निना मृत्युमवापुः। ततोऽसौ काशीसमीपे गङ्गातीरे गत्वा श्रीवल्लभं प्राप्यात्मसमर्पणं कृत्वा स्वदुःखं निवेदयामास। ततः श्रीवल्लभेन

---

१—एतस्मिन्नन्तरे इत्यारभ्य-मृत्युमवाप इत्यन्तं नास्ति—घ. च.। २—दासःइति नास्ति—ज. ञ. ट.। ३—औदीच्यः इति—क. ञ. व्यतिरिक्तेषु। ४—वत्स—क. ट.। ५—सपत्नी० ०अवापतुः—ञ. ट.।

कियत्कालं प्रतीक्ष्य पुनर्द्वारकायां प्रेषितः। व्यासवैष्णवस्य पत्नी ततो मृत्युमवाप।

एतस्मिन्नन्तरे श्रीवल्लभः क्रमेण देशानतिक्रम्य द्वारकां जगाम। मध्ये श्रीकृष्णपादाम्बुजयुगमभिभजद्भिर्भूपालैस्तत्र तत्र पूज्यमानो बहून्कृतार्थीकर्तुं[1] सिद्धपुरे[2] जिगमिषुर्जातः। ततो भगवता निवारितो "द्वारकामेव व्रज" इति, ततो द्वारकामेव गत्वा श्रीभागवतव्याख्यानं कर्तुमारेभे। तत्र द्वौ मुख्यौ श्रोतारौ, द्विवेदि नारायणो[3]ऽच्युताश्रमनामा दाक्षिणात्यः कश्चित्सन्यासी च।

एकदा[4] द्विवेदिनारायणं प्रति श्रीवल्लभेनोक्तम्—व्यासराणाख्यमत्राकारय[5], तच्छ्रुत्वा सिद्धपुरादाकारितोऽपि नागतः, रामानन्दशिष्यत्वात्। तदा श्रीवल्लभेन किमपि सक्रोधेनोक्तम्—भवतु नाम, श्रीकृष्णोऽस्मदीय एव, असावप्यायास्यति। यदैवमुक्तं तदैव व्यासस्य गृहे महानुपद्रवो जातः। तत्स्थानाच्छ्रीकृष्णोऽपि द्वारकां समागतः[6], केनाऽपि स्वप्ने दृष्टः। ततो राणाख्यो व्यासः कुत्रापि स्थातुं न शक्नोति स्म[7]।

ततः श्रीभागवतं समाप्य भगवद्गीताव्याख्यानं कृत्वा द्वात्रिंश[8]-शदुपनिषद्व्याख्यानं कृत्वा नारायणाख्यमच्युताश्रमञ्च श्रीवल्लभो

१—०म्बुजप्रियभूपालैः—व. म.। २—सिद्धपुरे इत्यारभ्य द्वारकामेव व्रज इति ततो इत्यन्तं नास्ति—घ. च. छ.। ३—०यणाख्यो—ञ.। ४—एकदाइत्यारभ्य न शक्नोति स्म इत्यन्तं नास्ति—घ. च.। ५—ऽऽनय—ऋ. ट.। ६—गतः—ऋ. ट.। ७—स्म इति नास्ति मातिरिक्तेषु। ८—द्विपञ्चाशत्—घ. च. छ.। द्वात्रिंशत् इति नास्ति—ब.।

भगवत्पदं प्रापितवान्। तयोर्मृत्युसमये भगवद्रूपदर्शनं बहूनामेव जातम्। ततः १ प्रस्थातुमारेभे।

एतस्मिन्नन्तरे मायावादिभिः सार्द्धं विवादः समजनि, तत्र २ तान्निर्जित्य "प्रयागं३ याहीति" माधवभट्टं प्रत्युक्त्वा, वत्साभट्टाख्यं गृहस्थं कारयित्वा, द्विवेदिगोविन्दं भगवत्सेवायां स्थापयित्वा, पुनः श्रीपुरुषोत्तमं प्रस्थितः।

ततो राणाख्यो व्यासः श्रीवल्लभमेवानु पुरुषोत्तमं जगाम, तत्र गत्वा प्रपन्नोऽभवत्।

ततो४ गुर्जरदेशाद् द्वौ ब्राह्मणौ श्रीवल्लभपदाम्बुजदर्शनाकाङ्क्षया श्रीपुरुषोत्तमं जग्मतुः। तत्र गत्वा तं प्राप्य कियत्कालं स्थितौ। तत्रैकदा५ श्रीजगन्नाथो हस्त्यारूढो विहारार्थं निर्गतः, तत्र द्रष्टुकामौ निर्गतौ६। तदा७ भगवत्स्वरूपं श्रीवल्लभ८मेव ददृशतुः। पुनः श्रीवल्लभस्य९ स्थानमागत्य श्रीवल्लभं ददृशतुः। यत्स्वरूपं१० दृष्टं तच्छ्रीवल्लभस्याग्रे कथयताम्।

---

१—ततोऽग्रे—ज.। २—तत्र इति नास्ति—ज. झ. ब. ट.। ३—प्रयागं इत्यारभ्य-प्रत्युक्त्वा-इत्यन्तं नास्ति—घ. च. छ.। ४—अर्वाचीन "व" संज्ञक पुस्तके कथानकमिदमतिविस्तरतः, प्रचित्रमिव वर्तते। तथाग्रेऽपि शालिग्रामकथानकमपि। ५—तत्रैकदा-इत्यारभ्य निर्गतौ इत्यन्तं नास्ति—ज। ६—गतौ—झ. ट.। ७—तत्र—झ. ज. ठ.। ८—वल्लभरूप—झ. ट.। ९—स्य इति नास्ति—झ ज. ट.। १०—तद्दृष्टं तदग्रे कथयताम्—इत्येव क्वाचित्केषु। तद्दृष्ट्वा तदग्रे॰—ट.।

एकदा१ श्रीपुरुषोत्तमयात्रायां काचिच्छ्रीवल्लभानुचरी पथि २श्रान्ता गन्तुमशक्ता जाता । श्रीवल्लभेन ज्ञात्वाऽपि शीघ्रमग्रे गतम्, सेवकैस्तस्मिन्निवेदितेऽपि । सा रात्रावेकाकिनी श्रीपुरुषोत्तम-मल्पवयसं ब्राह्मणपुत्र३मिव ददर्श । स आह४—अहं श्री-वल्लभेन त्वां नेतुं५ प्रेषितोऽस्मि, शीघ्रं व्रजेति । सा तेन सार्द्धं भग-वत्६स्थानं प्राप्ता ।७

अथैकदा८ प्रयागे श्रीवल्लभपत्नी तन्माहात्म्यं द्रष्टुकामा-ऽऽसीत् । तया९ऽपि शयनेऽग्निपुञ्जमध्ये श्रीकृष्णरूपमेव श्रीवल्लभ-रूपं दृष्टम्१० ।

एतस्मिन्नन्तरे बदर्याश्रमे वृद्धवैष्णवनामा कश्चिद्वसति११ । तेन सार्द्धं वल्लभस्य महती प्रीतिरभूत् । तस्य भगवत्कृपया१२ भगवत्सा-क्षात्कारमभूत्१३ । तेनासाधारणं श्रीवल्लभस्यालौकिकं माहात्म्यं दृष्ट्वा भगवन्तं प्रति पृष्टम्—सम्प्रति घोरे कलौ श्रीवल्लभमाहा-त्म्यमलौकिकं दृश्यते१४, तत्किम् ?

---

१—एकादशी—म. । २—आचार्यं पथि श्रान्ता श्रान्ता—ब. । पथि श्रान्ता—ज. । ३—बाल—ज. । ४—आहासौ कातिरिक्तेषु । ब्राह्मण-पुत्रः इति विशेषः—ज. । ५—त्वामानेतुं—म. । ६—पुरुषोत्तम—म. । श्रीवल्लभ—ज. ज. । ७—अत्र "कु ब" संज्ञकयोरर्वाचीनपुस्तक-योरेव यमुनायां जलक्रीडाविषयकोऽधिकः पाठ उपलभ्यते, सच प्रक्षिप्तः प्रतिभाति । ८—तथैकदा—ज. । ९—सा—म. । १०—दृष्टवत्—म. । ११—कश्चिद्वैष्णवः—म. । १२—वल्लभकृ—म. । १३—अभवत्—ब. ज. । १४—एव—इति विशेषः—कु. ज. म. प. ट. ।

तच्छ्रुत्वोक्तं भगवता श्रीनारायणेन—"अयं[1] मग्निव्यासनारद-रुद्रश्रीकृष्णांशैः प्रादुर्भूतः[2]। पूर्वमग्न्यंशे[3]नैकवारं राजा भोज इत्यभूत्, व्यासत्वेना[4]ऽऽचार्यत्वम्, अग्नित्वेन व्याख्यानकुशल[5]-त्वम् वागीश्वरत्वात्, नारदत्वेन[6] भक्तिप्रवर्तकत्वम्, श्रीकृष्णत्वेन सर्वभवन[7]समर्थत्वम्, रुद्रत्वेनाऽग्रे सन्न्यासाश्रममवाप्य[8] काश्यां स्वर्गतिः। भगवद्भावः[9] स्वपुत्रे श्रीविट्ठलेश्वरे प्रतिष्ठितो भवि-ष्यती"त्युक्त्वा भगवानन्तर्हितः।

एकदा प्रयागेऽलर्क[10]पुरे वसतिं प्राप्य श्रीवल्लभो मर्त्यलोकं जिहासुरभवत्। तदा ज्येष्ठपुत्रमुद्दिश्योक्तम्—त्व[11]मचिरेण पुरुषोत्तमायतन[12]मवाप्स्यसि, बलदेवरूपत्वात्[13]। अयं

---

१—अयं इत्यारभ्य भविष्यति-इत्यस्य स्थाने अयं साक्षात्पूर्णपुरु-षोत्तम-मुखाग्निरूपः, तेन नात्र चित्रं किञ्चित्। एतन्माहात्म्यं श्री-विट्ठलेश्वरे प्रतिष्ठितं भविष्यति इति पाठः घ. च. छ.। अत्राऽपि "ज" संज्ञकेऽर्वाचीनपुस्तक एव दैवजीवोद्धारार्थं श्रीवल्लभागकव्यजातमिति कथानकं महता सन्दर्भेण लिखितं, तदपि प्रक्षिप्तं भाति। २—०र्भवि-ष्यति—झ। ३—अस्यांशेन—झ. ट.। ४—व्याख्यानं व्यासत्वेन भक्तिप्रवर्तकत्वमाचार्यत्वञ्च—झ. ट.। ५—कौशलम्—ञ.। कौशल्यम्—ज.। ६—नारदत्वेन भक्तिप्रवर्तकत्वं-इति नास्ति—झ.। ७—भवन इति नास्ति झातिरिक्तेषु। कृष्णसमर्पणत्वं-ज। ८—प्राप्य ञ.। ९—भगवद्भाव-इत्यारभ्य-विट्ठलेश्वरे इत्येतस्य स्थाने नारदत्वेन गुणगानभक्तिप्रवर्तकत्वम् गुणैरेतैः कृत्वा श्रीविट्ठलेश्वरः इति—झ.। १०—ऽडेल—ज. झ.। ११—अयं—झ. ञ.। स्वय-मयं गोपीनाथः-ज.। १२—०तने पुरुषोत्तममेष्यति—ज. झ. ञ.। १३—बलदेवरूपत्वात् इति नास्ति-ज. झ. ञ. ट.।

विट्ठलेश्वरो वंशकरो १ भविष्यति, श्रीकृष्णरूपत्वात्२। श्रीभागवतार्थोऽस्मिन्नेव मया स्थापितः३।

एतस्मिन्नन्तरे माधवभट्टाः श्रीवल्लभानुग्रहाद्भगवन्तमवापुः४। प्रभुदासश्च महदलौकिकरीत्या ५।

यदा श्रीभागवततृतीयस्कन्धटीका श्रीवल्लभैः कृता, तदा श्रीबालकृष्णेनोक्तम् उपविश्योक्तम्७—मदीयं चरित्रं ८ व्याकुरु। तदा दशमस्कन्धव्याख्यानमेव कृतम्। द्वितीयस्कन्धे—"भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः," इत्यस्य व्याख्यानं श्रीवल्लभं प्रति श्रीकृष्णेनोक्तम् ९। निबन्धे१०"गृहं सर्वात्मना त्याज्य"मित्यादिश्लोकद्वयं साक्षाच्छ्रीकृष्णेन लिखितम्११।

पूर्वं१२मेकदाऽयोध्यायां श्रीवल्लभकृतं श्रीभागवतव्याख्यानं विप्र-

---

१—०धरो—घ. च. छातिरिक्तेषु। २—श्रीकृष्णरूपत्वात् इति नास्ति—ञ. झ. ज. ट. क. ख ग.। ३—प्रकाशितः—झ.। ४—०मेवापुः झ.। ५—भगवन्तमवाप इत्यधिकः—झ.। ६—०तस्य टीका स्कन्धतृतीयस्य कृता—क. ख. ग. झ ञ ट.। श्रीभाग० स्कन्धत्रयस्यटीका सुबोधिनी कृता—ज.। ७—०विष्टेनोक्तम्—घ. च. छ.। चोपविश्यो०—ट.। ८—चरितं—ज. झ. ञ.। ९—०नैवोक्तम्—क. ख. ग. ञ.। ०नैव कृतं—ट.। १०—निबन्धमध्ये—ज. ञ.। ११—श्रीनवनीतप्रियेणोक्तम्—घ. च. छ.। १२—अत्रापि "ञ" संज्ञकेऽर्वाचीनपुस्तक एव—श्रीवल्लभाचार्यस्य श्रीरामचन्द्रेण सह सम्मेलनं वार्तालापादिकं च महता विस्तरेण लिखितमुपलब्धं—परं तदपि प्रक्षिप्तमिव निरचीयते।

रूपेण हनुमता श्रुतम् । एकदा बदर्याश्रमे "वामबाहुकृतवाम-कपोल" इत्ययमध्यायः श्रीनरनारायणेन श्रीवल्लभमुखाच्छ्रुतः[1] ।

एतस्मिन्नन्तरे श्रीवल्लभैः[2] अलर्कपुरस्थैः स्वपत्नीं प्रत्युक्तम्—मह्यमाज्ञां देहि, अतोऽहं प्रव्रजिष्ये । साऽऽज्ञां नादात् । एकदालर्कपुर उपद्रवोऽकस्माज्जातस्तदा पत्नी श्रीवल्लभमग्निहोत्रशालास्थं प्रत्याह—स्वामिन् ! निर्गम्यतां गृहात्, अग्निरायाति । एवमुक्ते तामेवाज्ञां मन्यमानः श्रीवल्लभाः[3] निर्गत्य गङ्गातीर उपविष्टाः । तत्र त्रिदण्डविधिना "संन्यास निर्णय" उक्तः[4] । यथा विष्णुस्वामी तथा यतिर्भूत्वा काश्यां गताः । तत्रैक[5]विंशतिमे दिवसे स्वरूपमापुः ।

ततः कियता कालेन ज्येष्ठ[6]पुत्रो गोपीनाथः पुरुषोत्तममासाद्य स्वरूपमवाप । तत्पुत्रः पुरुषोत्तमाख्यश्च[7] ।

---

१—अतिप्रसङ्गो जातः—इत्यधिकं—झ. । २—एक वचनान्तः पाठः—ज. झ. ञ. ट. । ३—एकवचनान्तः पाठः—छ. ज. झ. ञ. ट. । ४—सन्यासनिर्णय उक्तः इति नास्ति क. ख. ग. ज. ट. । नारायणेन्द्रतीर्थतः प्रैषमुच्चार्य यथा विष्णुस्वामिना तथा यतीन्द्रेण भूत्वा काश्यां गतम् इति—ञ. । ५—तत्रैव—क. ख. ग. घ. च. छ. ञ. । ६—तज्ज्येष्ठ—ञ. । ७—स्वरूपं प्राप—इति विशेषः—झ. । अत्रापि—'ञ' संज्ञकेऽर्वाचीन पुस्तक एव—देहपरित्यागानन्तरमपि वल्लभाचार्याणां दर्शनं केषाञ्चिद्वैष्णवानां जातं, तेषां लीलानित्या, इत्यादिविषयकं कथानकं, तथा च तेषां सप्तपौत्रादीनां वृत्तान्तश्च विशेषतयोपलभ्यते ।

अथ श्रीविट्ठलेश्वरः सर्वदा[१] जयति । तत्पुत्रा गिरिधरादयश्च श्रीवल्लभादनवमाः[२], पौत्रादयश्च सर्वदा जयन्ति[३] ।

इति श्रीसम्प्रदायप्रदीपे, विष्णुस्वामिस्नेहपात्रे, विल्व-मङ्गलावर्तौ, श्रीवल्लभदीपशिखे श्रीवल्लभ-चरितनिरूपणं नाम चतुर्थं प्रकरणम्

---

१—सदा—ट. । २—श्रीवल्लभाचार्यवंश्याः—घ. च. छ. । विठ्ठुर-नवमाः—क. । ३—सर्वदा जयन्ति—इति नास्ति—क. ।

# पञ्चम-प्रकरणम्

अथोपनिषदां तत्त्वं यद् ब्रह्मेति परं विदुः ।
तदेव देवकीपुत्रः साकारं[1] व्यापि निर्गुणम् ॥ १ ॥
एतावान्सर्व[2]वेदार्थस्तदन्योऽर्थश्च मोहनः[3] ।
इति निर्णीयते चात्र[4] नत्वा श्रीवल्लभं हरिम् ॥ २ ॥

यतो ब्रह्म पर्य्यवसिता वेदाः[5], अतो ब्रह्मप्राप्तिरेव पुरुषार्थः । तद्रूपत्वे क[6] कस्य प्राप्तिः । अतो ये सर्वधर्मान्निषेध्यारूपमेवोपदिशन्ति ते श्रुत्यर्थाद् भ्रष्टाः ।

श्रुतयः कियत्सङ्ख्याः ? यथोक्तं बृहदारण्यके—"स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वारेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यैवैतानि निःश्वसितानि ।" अत्र यदुक्तं तत्सर्वं वेद एव । ( २ अ० ४ ब्रा० १० )

अतो ज्ञायते श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणैः सर्वैः श्रुतिपठितः क्रमः

---

१—साकारो० निर्गुणः—ब-च । साकार० निर्गुणः—क. । २—एव ट. । ३—मोहने—घ. च. छ. ज. झ. । ४—ऽथात्र—क. ख. ग. ज. झ. ट. । ५—वेदान्ताः—क. ख. ग. ञ. ट. । ६—क—इति नास्ति छ. ट. । रूपत्वेव कस्य—ज. ।

"श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो द्रष्टव्यः" इति दर्शनपर्यन्त-मेष्वेक१तरेण न भवति । यथाऽऽशौच२तीर्थमाहात्म्यैकादि व्रत विधानफलनिरूपणादि ३ ज्योतिःशास्त्रादिकार्यं, केवलमृग्यजुः सामाथर्वाख्यै४र्न भवति, किन्तु वेदान्त५स्मृतिपुराणेतिहासैः समग्रधर्मनिर्वाहः कर्मकाण्डे ।

एवं निवृत्तिकाण्ड ऋगादिभिः सेतिहास६पुराणैः सर्वैरेव दर्शन-पर्यन्तं ब्रह्मनिर्णयः । अन्यथै७कतराङ्गीकारे८ऽन्धस्य गजस्पर्शवदे-कदेशीयावगतिः९, नतु समग्रा ।

यद्यद्रूपा नामाकर्मकं१० ब्रह्म, तर्हि श्रोतव्य११ इत्यादयः किं विषयाः ? परं श्रुतिस्तूभयथा१२ निरूपयति । तत्र वेदार्थः सन्दिग्धोऽभूत् । अथ वेदार्थनिर्णये१३ किं प्रमाणम् ? कृष्णद्वैपायन एव१४ । (स१५ यद्यन्नामाऽसौ कथं श्रोतव्यः, यद्यद्रूपो,१६ मनननिदि-ध्यासनदर्शनादि क१७ )*

---

१—मेवैक०-ट. । २—ह्याशौच-ञ. । ३—यादिकं-ञ. ञ. । ४—०थर्वणाख्यैः-ञ. । ५—वेदाङ्ग-ञ. म. ट. । ६—सहेतिहास-ञ. ञ. । ७—नान्यथा, यथाऽन्धस्य०-क. ख. ग. ञ. ञ. ट. । ८—ऽधिकारे-ब. च. छ. । अङ्गीकृतौ-म. । अङ्गाकृते-ब. । ९—सैकदेशीया-ञ. । १०—यद्यद्रूपमनाममकर्मकं-ञ । ११—तर्हि किं श्रोतव्यविषयं-ट. । तर्हि श्रोतव्य इत्यादयो धर्माश्च किं-ञ. । १२—तु—नास्ति ञातिरिक्तेषु । १३—निरूपणं-ट. । निर्णयः-ञ. । १४—एव प्रमाणं-ट. । १५—स इति नास्ति ञ.ञ.ट. । १६—तर्हि किं विषयकं मनननिदिध्यासनदर्शनादिकमित्याह-ञ. । १७—कथं-छ. ञ. ।

* स इत्यारभ्य क पर्यन्तः कोष्ठान्तर्गतः पाठः सर्वत्रोपलब्धः, परं मध्ये न सङ्गतः प्रतिभाति ।

कृष्णद्वैपायनप्रामाण्ये[१] यथा स्कन्दपुराणे सूतवचनम्[२]—

"देवाश्च ऋषयश्चैव वेदार्थे मूढतां गताः।
पुरा ब्रह्माणमेत्यार्थं जग्मुः सर्वे विवित्सवः ॥ १ ॥
गत्वा स्तुत्वा च नत्वा च तत[३] ऊचुः पितामहम्।
दुर्ज्ञेयार्थो वेदराशिः क्रमार्थे नैकवाक्यता ॥ २ ॥
कथं तदर्थं भगवन्! वयं जानीमहेऽञ्जसा।
तच्छ्रुत्वा भगवान्ब्रह्मा तुष्टाव पुरुषोत्तमम् ॥ ३ ॥

ब्रह्मोवाच—

यो वेदरूपो वेदार्थो वेदकर्ता च वेदवित्।
वेदार्थे मूढबुद्धीनां स वेदार्थं ब्रवीतु नः ॥ ४ ॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं न देवः केशवात्परः।
नास्ति वेदात्परं शास्त्रमेतत्सत्यं[४] स तुष्यतु ॥ ५ ॥
इति स्तुतो हृदाकाशे प्रादुरासीत्स्वयं हरिः।
उवाचाजं[५] स भगवान्यः स्वयं पुरुषोत्तमः ॥ ६ ॥
संभविष्यामि कलया सत्यवत्यां पराशरात्।
वेदार्थं च[६] प्रवक्ष्यामि सर्वेषां हितकाम्यया ॥ ७ ॥
ब्रह्मसूत्रं करिष्यामि सर्वश्रुत्यर्थसिद्धये।
दर्शयिष्यामि वेदार्थं भारतव्यपदेशतः ॥ ८ ॥

---

१—प्रमाणे-आतिरिक्तेषु। २—वाक्यम्-ज.। ३—स्थिता-ज.।
४—सत्यात्स तुष्यति-ज.। सत्यात्-ज.। ५—उवाच तं-ब. ज.।
६—चैव वक्ष्यामि-छ. ज. ब. ट.।

वेदशाखासु[1] नष्टासु वेदार्थो भारते कलौ।
दृश्यते नात्र सन्देहः कर्तव्यः केनचित्क्वचित् ॥ ९ ॥
भारते भगवद्गीता श्रुत्यर्थे संशयापहा।
श्रुति कल्पतरोः साक्षात्फलं भागवतं हि तत्[2] ॥ १० ॥
गीतार्थाद्विस्तरेणाहं वक्ष्यामि च विशेषतः।
तेन रूपेण वेदार्थं यद्वक्ष्यामि तथैव तत् ॥ ११ ॥
तं यो न मन्यते मूढः स पाषण्डी नराधमः।
भविष्यति कलौ सृष्टिरासुरी ब्राह्मणेष्वपि ॥ १२ ॥
ते हि वक्ष्यन्ति वेदार्थमन्यथा हि निजेच्छया[3]।
कृष्ण द्वैपायनाख्योऽहं संभविष्यामि[4] सर्वथा ॥ १३ ॥
इत्युक्त्वाजं[5] स भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत।
ततः पराशराज्जातः सत्यवत्यां महायशाः ॥ १४ ॥
यदर्थमवतीर्णोऽसौ तत्तथैव चकार ह।"

अतः कृष्णद्वैपायनादि[6]दर्शितो वेदार्थः। सर्वोपनिषत्सु याज्ञवल्क्यादिभिर्यदुपदिष्टं ब्रह्म गार्ग्यादिषु, तदेव देवकीपुत्रः कृष्ण एव। स एव साकारो व्यापको[7] निर्गुणश्च[8]।

यथोक्तं बृहदारण्यके—

"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो

---

१—शास्त्रेषु-नष्टेषु-ग. च. छ.। २—ततः-झ. ञ. ट.। ततं-ज.। ३—यथे० छ. ञ. ट.। ४—भविष्यामि च.-ब.। ५—ऽजः-झ.। ऽन्तः-ट.। ६. आदि इति नास्ति ञ.। ७—व्यापी-क. ग. घ. च. छ.। ८—श्रीपुरुषोत्तमः इत्यधिकं ञ.। पुरुषोत्तमः इत्यधिकं ब.।

विदुरिति, विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्, सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ।"

श्रीभगवद्गीतासु च—

"सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥"

इत्यत्र[1] लौकिकयुक्त्या निर्णेतुमशक्यम्, अचिन्त्यानन्तशक्तित्वात् । अतो वेदवाक्यार्थत एव मन्तव्यम्[2] । अत एव सर्ववेदार्थदर्शिना बादरायणेन श्रोतव्यादि निरूप्य द्रष्टव्यसमये गीतावक्तृत्वेन कृष्णाख्यमेव ब्रह्म दर्शितं महाभारते । सर्वप्राकृतधर्मविलक्षणमानन्दमात्रकरपादमुखोदरादि जन्मनामकर्मगुणलीलासहितं, सांशं, शुद्धं, कृष्णाख्यमेव ब्रह्म, श्रीभागवते शुकेनाऽपि गीतं, व्यासेनाऽपि कथितम् । अतो ज्ञायते यत्[3]—सर्ववेदतात्पर्यं[4] श्रीकृष्णाख्यं ब्रह्म ।

एवं पराशरेणाऽपि विष्णुपुराणे ब्रह्मपद्मादिष्वपि नराकृतिपरं ब्रह्मेति । अतः सर्वेऽवताराः कृष्णस्य[5] । अवतारी श्रीकृष्ण एव ।

येऽन्ये वैष्णवसिद्धान्तवादिनोप्याचार्याः "सर्वेऽवतारास्तुल्या" इति वदन्ति, तेषामवतारान्तरे सर्वात्मना सेव्यत्व[6]बुद्धिः, तदंशत्वात् । "यो यदंशः स तं भजे"दिति वाक्यात् स्वोपास्या-

---

१—इत्यत्र—इत्यरभ्य शक्तित्वादित्येतत्स्थाने न ह्यत्र लौकिकयुक्त्या निर्णेतुं शक्यं इति पाठः क. ग. घ. च. । २—तथा इति विशेष ब. । ३—यत्इति नास्ति घ. च. । ४—तात्पर्यञ्च-क. ख. ग. ज. । ५—कृष्णाख्यस्य-घ. च. छ. ट. । ६—सेव्यबुद्धिः-छ. ज. व्यतिरिक्तेषु ।

वतारेंऽशत्व[1]कथनं भक्तिमार्गविरुद्धम् । अतस्तेषां तथैव व्याख्यानमुचितम्, स्वेष्टोत्कर्षव्यापकत्वात् । भगवतोऽपि सर्वकरणसमर्थत्वादुचितमेव, "ये यथा मां प्रपद्यन्ते०[2]" इति वाक्यात् । परं श्रुतिस्मृती[3]तिहासपुराणार्थवेदिना श्रीबादरायणेन कर्मज्ञानोपासनाकाण्डात्मकस्य वेदराशे[4]स्तात्पर्यं शुद्धसाकारब्रह्मणोऽनन्तरूपत्वेऽपि मूलरूपं देवकीपुत्र एवेत्युक्तम् ।

यथोक्तं भगवता[5]—

"सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्[6] ॥"

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ! ( १५ अ० )

अहमेवेत्येवकारेण यथादृष्टः शुद्धः साकारोऽहमेव । पुरुषोत्तमत्वेन श्रीकृष्णे ज्ञाते सर्वविद्भवति । सर्वभावेन श्रीकृष्णमेव भजति । "अधिभूतं क्षरोभाव" इति क्षरः पुरुषः । "प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत्पुरा ॥ यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते" इत्यक्षरः पुरुषः, तयोरप्यूत्तमः पुरुषोत्तमः श्रीकृष्ण एव । असावेव फलावतारः । यथोक्तं[7] तृतीयस्कन्धे मैत्रेयेण—

---

१—ऽशकलात्व-ज. । २—ये यथा०-इति पद्यं नास्ति ज. । ३—स्मृति इति नास्ति-ज. ज. ट. । ४—वेदस्य-ज. । ५—भगवद्गीतासु इति विशेषः छ. । ६—इति इति विशेषः ज. ज. ट. । ७—श्रीभागवततृतीय० इति विशेषः ज. ।

"पूर्वस्यादौ परार्द्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत् ।
कल्पो, यत्राभवद् ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः ॥
अस्यैव चान्ते कल्पोभूद्यं पाद्‌ममभिचक्षते ।
यद्धरेर्नाभिसरस आसीन्नाभिसरोरुहम् ॥
अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्याऽपि भारत !
वाराह इति विख्यातो यत्रासीच्छूकरो हरिः ॥

अत्र केचिदिति व्याख्यानं[1] कुर्वन्ति—पूर्वस्य परार्द्धस्यादौ ब्राह्मो नाम महान्कल्पो ब्राह्मवर्षमानेन शतवर्ष सङ्ख्योऽभूत्, यत्र ब्रह्माऽभवत्, यं शब्दब्रह्मेति विदुः । तस्यैव ब्राह्म कल्पस्यान्ते पाद्‌मोनाम महाकल्पोऽभूत्, यत्र हरेर्नाभिसरसः पद्‌ममासीत् । पुनरयं वाराह इति विख्यातो महाकल्पो द्वितीयस्याप्यन्ते—पाद्‌मकल्पस्यान्तेऽभूत् । अतः पूर्वपरार्द्धे वाराहकल्पस्यैव[2] । अवतार[3]-ग्रहणात्पूर्वं ब्राह्मपाद्‌माव भूताम् ।

एवं[4] प्रतिपुराणं महाकल्पाः कल्पभेदाध्याये मत्स्यपुराणे पठिताः । तत्र सारस्वतकल्पोयं श्रीभागवतवृत्तान्तम् । यथोक्तम्[5] तत्रैव[6]—

"सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये स्युर्ये नरावराः[7] ।
तद्वृत्तान्तभवं[8] लोके श्रीभागवतमुच्यते ॥"

---

१—व्याख्यां-ट. । २—अतीतं इति विशेषः ज. । ३—अवतार-ग्रहणात् इत्यस्य स्थाने अतो वाराहकल्पात्-ख. ज. ।—४—एवं इति नास्ति छ. ट. । ५—तद्यथोक्तं-ज. । ६—मत्स्यपुराणे-घ. च. ज. ट. । ७—ऽमराः-क. ख. ग. छ. ज. ट. । ८—वृत्तान्तोद्भवं-छ. च. ट. ।

तत्र[१] भगवान्पुरुषोत्तमः स्वयं पूर्णोऽवतीर्णः । "कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्[२] ।" "जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभि"रिति[३] पौरुषं रूपं जगृहे । अवतारमालाकथनान्ते[४] सूतेनोक्तम्—"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्" अत्र भगवानिति पदम्, "आदौ जगृहे पौरुषं रूप" मित्य त्रापि[५] भगवानिति पदं श्रीकृष्णस्य[६] पूर्णत्वप्रतिपादकम् । भगवान्नारायण इति यैर्व्याख्यातं, "यस्याम्भसि शयानस्येत्यस्मिन्पदे नारायणत्वं पौरुषे रूपे एव । "एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्यय"मिति वाक्यात्सर्वेऽवतारा नारायणरूप[७] एव पर्य्यवसिताः । "पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत" इति श्रुतेः । अतएव सर्वैरवतारैरंशकलाविभूतिभिः सहितं नारायणाख्यं पौरुषं रूपं भगवति पुरुषोत्तमे श्रीकृष्णे सदैवास्ति । अतएव पूर्णत्वं श्रीकृष्णे देवकीपुत्रे[८] । सर्वेष्ववतारेषु यावत्यो ज्ञानक्रियाशक्तयः प्रत्येकं सन्ति, ताः सर्वा एकस्मिन्नेव देवकीपुत्रे सन्ति । अतो देवकीपुत्रोक्ता[९] गीता वेदार्थनिर्णयसन्देहे प्रमाणम् ।

अतः श्रीभागवत आदिप्रश्नादारभ्य—

"सूत ! जानासि भद्रं ते भगवान्सात्वतां पतिः ।
देवक्यां वसुदेवस्य, जाता यस्य चिकीर्षया ॥"

---

१—श्रीभग० ट. । २—पुरुषोत्तमः-ज. ञ. टातिरिक्तेषु ।
३—इति वाक्यात् अत्र भगवान्पुरुषोत्तमः पौरुषं च रूपं जगृहे-ञ. ।
४—प्रथमस्कन्धे इति विशेषः ज. ञ. । ५—तत्रापि-ज. ञ. ।
६—कृष्णपूर्णत्व-छ. ट. । ७—रूप मेव-क. ख. ग. । रूपा एव-छ. ।
८—संतिष्ठते इति विशेषः ञ. । ९—प्रोक्ता-ब. ।

इति१ प्रतिस्कन्धं सर्वावतारचरितसंक्षेपनिरूपणे, श्रीकृष्णचरितसविस्तरनिरूपणे भगवतः कृष्णद्वैपायनस्याभिप्रायः सर्वेऽवतारास्तुल्या भवन्तीति२ । अतः श्रीकृष्ण एव पूर्णः । मत्स्यादिभिः पुराणेषु कर्मज्ञानभक्तियोगाः सत्यव्रतादीन्प्रत्युक्ताः सन्ति । वेदार्थनिर्णयसम्मतो सन्यासिनामनुदिनपाठे श्रीभगवद्गीतैव, अतो ज्ञायते सर्वोपनिषदुक्तं परब्रह्म श्रीकृष्ण एव । यथा३सारस्वतकल्पे श्रीकृष्णाख्यं पूर्णं ब्रह्माऽऽविरासी४त्तथाऽस्मिन्नेव वाराहकल्पे वर्तमानमन्वन्तरेऽष्टाविंशतिमे द्वापरे पूर्णं श्रीकृष्णाख्यं ब्रह्माऽऽविरासीत् । इति५ पुराणान्तरेऽप्युक्तमस्ति६ । अतः७ श्रीभागवतमार्गेणैव तद्भजनम् ।

केचिद्८ब्राह्मपाद्मादीन्कल्पान्ब्रह्मणो दैनन्दिनान्वदन्ति, तस्मिन्पक्षे ब्रह्मणश्चैकवर्षमध्ये प्रतिदिनमनुकल्पं त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि श्रीकृष्णावतारा भवन्ति, पूर्णत्वं सारस्वतकल्पीये । महाकल्पवादिनां मतेऽपि सारस्वतकल्पस्याव्यभिचारः । अन्य कल्पेषु श्रीकृष्णावतारेऽप्यंशत्वम्, पुराणेषु तथैव प्रतिपादितत्त्वात् । देवतात्वं मन्त्राधीनत्वात्, "मन्त्राधीनाश्च देवता" इति वाक्यात् । अतो वैदिकैस्तान्त्रिकैर्वेदतन्त्रोक्तविधिना श्रीकृष्णावताररूपाण्युपास्यन्ते तान्यंशावतारस्यैव९ । अतो वेदतन्त्रोक्तो१० मार्ग

---

१—तथेति-ज. । २—न भवन्ति-ज. । इतिनभवन्ति-ज. ३—यद् छ. । ४—आसीत्-ज. । ५—इत्येवम्-ज. । ६—उक्तमप्यस्ति-ज. । ७—श्रीकृष्णरूपश्रीभाग० ज. । ८—ब्राह्मणाः इति विशेष-ज. ज. । ब्राह्मादीन्-छ. । पाद्मादीन्-ज. ज. । ९—रूपाण्येव इति विशेषः-ष. ष. छ. । १०—तन्त्रोक्त०-छ. ज. । वेदे तन्त्रोक्तः-द. ।

उपासनामार्ग एव मुक्ति मुक्ति१ साधकश्च । "भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत मा" मिति भगवद्वाक्यात्२ । पूर्णस्याराधने श्रीकृष्णोक्त एव३ भक्तिमार्गः ।

तद्यथा—चतुर्णां वेदानामुपनिषदां तत्त्वमस्यादि४महा-वाक्यानि चत्वारि । इतिहासपुराणानामेकम् । एवं पञ्चमहा वाक्यानि । तेषामर्थः सर्वैर्यथाप्रकृति विचारितः । एके ब्रह्मजीवयो५-रैक्यं वदन्ति । तत्त्वं६ पदाभ्यामुपदेश७समये८ भेद एव ज्ञायते । आत्मत्वेन ब्रह्मणि ज्ञाते सर्वतोऽधिकप्रेमास्पदमात्मैव ९ । तद् ब्रह्म त्वमसि । तस्य त्वमसीति केचित् । आत्मैव श्रीकृष्णः स त्वमसि, तदीयोऽसि वा । अतो यः प्रेमास्पदं स भजनीयः१० । अनया रीत्या महावाक्यार्थं सद्गुरुमुखाज्ज्ञात्वा११ "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्न" मितिवत्, "श्यामसुन्दर ! ते दास्यमितिवत्—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते १२ । अभयं सर्वथा १३ दास्य इति जन्मवृतं ममे"त्यवगत्य १४ सद्गुरुवाक्यादात्मसमर्पणं कृत्वा१५ सेवा१६कथाभ्यामेव भजनं कार्यमिति भक्तिमार्गः ।

---

१—मुक्तिमुक्तिभक्ति-ज. । २—भगवत्तत्त्वोक्तत्वात्-ट. । ३—एव-इति नास्ति ज. ज. । ४—०मसीति-ज. । ०स्यादिकानि ज. । ५—जीवपरयोः-ज. ज. ट. । ६—तत्त्वमिति-ज. ज. । ७—०तूपदेश-ज. । ८—अपि इति विशेषः छ. ज. ज. । ९—भवति-ट. । १०—एव-ट. । ११—अव-गत्य ज. । १२—यो वदेत्-ट. । १३—सर्वभूतेभ्यो दास्यामीति-ज. । सर्वदा तस्मै ददाम्येतद् व्रतं ममेति मर्यादापुरुषोत्तम-मुखोद्गतमिदं याथातथ्येनावगत्य-ज. । १४—गन्तव्यं-छ. ट. । १५—भगवते कृत्वा-ज. । १६—कौशल्ये कथायाम्-ज. ।

यथोक्तं[१] भगवद्गीतासु भगवताऽर्जुनं प्रति—

"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥"

भक्तिलक्षणं सात्वततन्त्र उक्तम्[२]—

"माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥"[३]

"अहं सर्वस्य प्रभव" इति माहात्म्यज्ञानं प्रोक्तम्[४]। "भजन्त" इति स्नेह उक्तः[५]। स्नेहव्यतिरेकेण भजनं[६] न भवति, मातृबालवत्। "भावसमन्विता" इति सर्वतोऽधिकः सुदृढतरोऽप्युक्तः।

भजनप्रकारमाह—

"मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥"

"मच्चित्ता" इति पञ्चेन्द्रियव्यापारो भगवत्युक्तः। "मद्गतप्राणा" इति कर्मेन्द्रियव्यापारोऽपि[७] भगवत्ये वोक्तः[८]। मद्गतत्वेन निर्दोषत्वञ्च मलांशत्यागेन, प्राणस्य हि क्रियाशक्तिरिति व्याख्यानात्[९]। "बोधयन्तः परस्पर"मिति समानशीलैरेव सङ्गोऽप्युक्तः। "कथयन्तश्च मां नित्य"मिति श्रीभागवतादिश्रवण-

---

१—गीतासु-"अहं सर्वस्य०" ज.। २—उक्तं-इति नास्ति छ. ज. ट.। ३—इति एतस्यार्थो गीताश्लोक उच्यते-इति विशेषः ज.। ४—उक्तम्-ज.झ.। ५—उक्तः-इति नास्ति ज.। स्नेहोप्युक्तः-ज.। ६—भजनासम्भवात्-ज.। ७—अपि-इति नास्ति ज. ट.। ८—०त्येवोक्तः-क. ख. ग. घ. च.। ९—वाक्यात्-ज. झ. ट.।

कीर्तनमप्युक्तम्[१]। एवं सेवा[२]कथालक्षणाभक्तिः सिद्धा, सैव फलरूपाजातेति, "तुष्यन्ति च रमन्ति चेत्यनेन निरूपितम्[३]।

ब्रह्मभावानन्तरमीदृशीं भक्तिं भक्तेभ्यो भगवानेव ददाति, न तु साधनैः। यथोक्तम्[४]—

"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥"

अतः[५] प्राप्तब्रह्मानन्दोऽपि श्रीशुको[६] व्यासाद् भागवतमधीत्य[७] श्रीकृष्णस्यानन्तगुणगणौश्रार्णवे[८] श्रीभागवतकीर्तनादौ प्रवृत्तः। अतो[९] ज्ञायते श्रीकृष्णाख्यमेव सर्ववेद[१०] तात्पर्यं परं ब्रह्म। ये ये यस्मिन्कल्पे[११] मन्वन्तरे[१२] युगे मत्स्यादिभगवद्रूपाण्याराधयन्ति,[१३] ते ते तेषु [१४] भगवद्रूपेषु सायुज्यादि[१५]भावं प्राप्ताः, तेषां तत्तदेव फलम्। येषां[१६] श्रीकृष्ण एव सर्वशास्त्रतात्पर्यं तेषां सारस्वतकल्पीय-पूर्णकृष्णावतारे भजनानन्दानुभवः फलम्। अनेकमहाकल्पपर्यन्तं कृतसाधनानां सर्वावतारभजनस्यापि फलं तदेव, यथा श्रीशुकस्य। यथा श्रुतिरूप[१७]-

---

१—अपि-इति नास्ति ब.। २—साक्षात्सेवा-ट.। ३—०पिता-ब.। ४—भगवद्गीतासु-इति विशेषः ब.। ५—एवं-ज.। यतः-ब.। ६—शुकदेवः-ज.। ७—श्रीभाग०-ज.। भागवतमधीतवान्-ट.। ८—ऽर्णवे तल्लीलाकृष्टचित्तः श्रीभाग०-ज.। ९—तस्मादिति ज्ञायते-ज.। १०—वेदान्ततात्पर्यं-ज.। ११—यस्मिन् यस्मिन्-ब. ज.। १२—मन्वन्तरे-इति नास्ति ज.। मन्वन्तरयुगे-ट.। १३—०न्तिसम-ज.। १४—तेषु-इति नास्ति ब्रातिरिक्तेषु। १५—सायुज्यं प्राप्ताः-ब.। १६—येषाञ्च-ज.। १७—रूप-इति नास्ति क. प.।

गोपिकानाम् । यथाग्निकुमारणाम् । श्रुतिरूपगोपिकानां१ बृहद्वामनपुराणे कथाऽस्ति२ । अग्निकुमाराणां३ श्रीरघुनाथवरदानतो गोपिकात्वप्राप्तिरिति कूर्मपुराणे कथा । "व्रजस्त्रीजनसम्भूतिः श्रुतिभ्यो ब्रह्मसङ्गता" इत्याथर्वणी श्रुतिः ।

"रहस्यमिदमाहादौ ब्रह्मणे पुरुषोत्तमः ।
स नारदाय प्रोवाच, कृष्णद्वैपायनाय सः ॥ १ ॥
स आह शुकदेवाय, ततो मार्गस्तिरोऽभवत् ।
पुनः कलियुगे प्राप्ते श्रीगोपीजनवल्लभः ॥ २ ॥
श्रीविष्णुस्वामिने४ प्राह, तस्माच्च बहवोऽभवन् ।
आचार्याः सर्वतत्त्वज्ञाः कृष्णमार्गप्रवर्तकाः ॥ ३ ॥
तेभ्यः कालक्रमेणैवमभवद्बिल्वमङ्गलः ।
ततस्तिरोहितो मार्गो वर्षसप्तशतं कलौ ॥ ४ ॥
ततोऽग्निरूपी भगवाँछ्रीवल्लभ इति श्रुतः ।
प्रादुर्बभूव तस्मै स प्राह कृष्णेच्छया त्विदम्५ ॥ ५ ॥
बिल्वमङ्गलनामात्र६, तिरोभूय स्थितश्च यः ।
श्रीवल्लभसुतः७ श्रीमाँछ्रीविट्ठल इति प्रभुः ॥ ६ ॥

१—०नां च-ज. । २—प्रसिद्धा-ज. । अस्ति-इति नास्ति-ट. । ३—कुमारर्षीणां रघुवरवरदानतः स्वमनोरथप्राप्तिः । अथ च श्रुतीनां गोलोके श्रीकृष्णविग्रहालोकने कामभावेनात्र गोपिकात्व०-ज. । कुमाराः श्रीरघु०० गोपिकात्वं प्राप्ताः- छ. । ४—स्वामिनं-ट. । ५—०न्त्विदम्-ट. । ०न्वितः-छ. । ६—दक्षिणस्यां प्रवृत्ते पिशाचात्मना तिरो० इति विशेषः ज. । ७—इति श्रीमान्-छ. । वल्लभस्य सुतः श्री०-ज. ।

तेन श्रीवल्लभात्प्राप्तं रहस्यं राधिकापतेः।
श्रीविट्ठलसुताः सर्वे ख्याता गिरिधरादयः॥ ७॥
कुर्वन्तो भगवद्भक्तिमायुष्मन्तो भवन्त्विह"॥

श्रीवल्लभप्रोक्त-श्रीविष्णुस्वामिसम्प्रदाये सर्वतोऽधिकं वस्तु[1] पञ्चकं भगवता स्थापितम्। गुरुसेवा, भागवतार्थः, भगवत्स्वरूप-निर्णयः, भगवत्सेवा, नैरपेक्ष्यमिति[2]।

यदत्रोक्तं[3] गदाख्येन लिखित्वा पुस्तके पुनः।
सम्प्रदायप्रदीपे तत्सत्यमस्तु हरीच्छया॥ ८॥

प्रपञ्चासत्त्वं ये वदन्ति कुधियो व्यापकत्वञ्च जीवे।
न वेदार्थो येषां भवति च कलौ कृष्णमार्गाऽनुसारी[4]॥
न निर्णीतं पूर्णं स्वहृदि च परं[5] साकृति ब्रह्म शुद्धम्।
न तेभ्यः शुश्रूषा न च विविदिषा नो[6] विवक्ष्यं ममास्ति॥९॥

अर्बुदारण्य - सम्भूतो द्विवेदीति गदाधरः[7]।
साम्प्रदाय-प्रदीपाख्यं ग्रन्थमेनं चकार सः[8]॥ १०॥
वासं कृत्वा वृन्दारण्ये धृत्वा चित्तं श्रीराधेशे।
ग्रन्थं कृत्वा गदनामायं कृतकृत्योऽस्तु श्रीकृष्णात्॥ ११॥
अर्बुदादग्निदिग्भागे ह्यवोरगिरि - सन्निधौ।
एकलिङ्गा[10]च्छिवक्षेत्रान्नैर्ऋत्यां दिशि विश्रुतम्॥ १२॥

---

१—वस्तु-ज्ञातिरिक्तेषु। २—प्रेमापेक्षा-ज.। ३—यदत्रोक्तमित्यारभ्य "रामदत्तादयः श्रुता"-इत्येतदन्तं नास्ति घ. च. छ.। ४—वाक्यानु०-ख. ज.। ५—परब्रह्म विमलं-ज.। ६—मे मतिरिति-ज.। ७—०मिथः-ज्ञातिरिक्तेषु। ८—यथा ह्येनं-ज.। ९—ह-ज.। १०—०लिङ्गशिव०ज.।

सर्वसेवोपकरणं श्यामसुन्दर-मन्दिरम् ।
वसन्ति तत्र तत्सेवां कुर्वन्तश्च कथां मुदा ॥
गदाख्य - पुत्रपौत्राद्या रामदत्तादयः श्रुताः ॥ १३ ॥
श्रीवल्लभोक्तमार्गेण कृष्णसेवापराः सदा ।
भवन्तु१ सुखिनः सर्वे श्रीकृष्णस्य प्रसादतः ॥ १४ ॥
तेषु नित्यं प्रसन्नोऽस्तु श्रीमद्वल्लभनन्दनः ।
मदन्वयस्वीकरणे सदा भवतु वल्लभः२ ॥ १५ ॥

श्रीमन्नृपति३विक्रमार्कसमयातीत - षोडशशताधिकदशम-संवत्सरे श्रीमद्वृन्दावने४ श्रीगोविन्ददेव५ सान्निध्ये६ द्विवेदि-गदाख्येन ग्रन्थोऽयमकारि ।

इति श्रीसम्प्रदायप्रदीपे, विष्णुस्वामिस्नेहपात्रे,
बिल्वमङ्गलावर्त्तौ, श्रीवल्लभदीपशिखे
श्रीकृष्णाख्यब्रह्मनिर्णयो नाम
पञ्चमं प्रकरणम्
"समाप्तोऽयं सम्प्रदाय-प्रदीपः"

---

१—०न्ति-ज. । २—ममोपरि कृपां कृत्वा गुरुः श्रीविट्ठलेश्वरः—इति विशेषः ज. । ३—नृपविक्रम—ञ. । विक्रमार्कराज्यसमयात्-ट. । विक्रमादित्यसमयात्-छ. ज. । ४—श्रीवृन्दा०-ट. । वृन्दारण्ये-ञ. । ५—श्रीगोविन्ददेव इति नास्ति छ. । ६—सन्निधौ—ञ. ।

( श्री द्वारकेश-ग्रन्थमाला* )

# विद्याविभाग द्वारा प्रकाशित पुस्तकें



| | | |
|---|---|---|
| १ | विधवा-विवाह-खण्डन ( बुरहानपुर-शास्त्रार्थ ) ... | ।) |
| २ | सनातन धर्म ... ... ... ... | =) |
| ३ | पुष्टिमार्गीय वैष्णवोनुं आन्हिक ( गुजराती ) ... | =) |
| ४ | मङ्गल-मणिमाला ( १-२-३-४-५-६ स्तवक ) प्रत्येक | ।) |
| | ( संस्कृत-हिन्दी कविता ) | |
| ५ | कविता-कुसुमाकर भाग १ } श्री० द्वा० कवि-मण्डल | ॥) |
| | ,, ,, ,, २ } का समस्या-पूर्ति-संग्रह | ॥) |
| ६ | कनकाभिषेक ( गुजराती ) ... ... ... | ।) |
| ७ | दोलोत्सव-व्यवस्था ( संस्कृत-गुजराती ) ... ... | =) |
| ८ | साम्प्रदायिकग्रन्थ-सूची ... ... ... | ।) |
| ९ | सम्प्रदायप्रदीप ( हिन्दी-गुजराती-अनुवाद सहित ) | २) |

---

* इस ग्रन्थमाला में संस्कृत तथा हिन्दी-साहित्य की प्राचीन तथा नवीन दोनों प्रकार की पुस्तकों के प्रकाशन का आयोजन किया गया है। प्रथम ही ग्राहक-श्रेणी में नाम लिखानेवालों को पुस्तकें पौने मूल्य में देने का विचार किया गया है।

## शीघ्र प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें

१ श्रीद्वारकाधीश की प्राकट्य वार्ता ( सचित्र ) कांकरोली का इतिहास तथा तृतीय सेवा-पद्धति ... ... ...

२ प्रभु चरित्र-चिन्तामणि ( सानुवाद ) ... ...

३ हरिभजन-मणि मञ्जरी ( सानुवाद ) ... ...

४ भगवत्तत्व-दीपिका ( सानुवाद ) ... ... ...

५ श्रीवल्लभाचार्य और हिन्दी-साहित्य ... ...

इत्यादि

---

प्राप्तिस्थान—

सञ्चालक

**विद्याविभाग, कांकरोली**

( मेवाड़ )